

॥ हरिःॐ ॥

# आश्रम की अटारी से



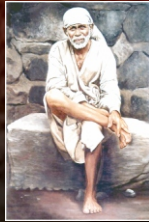
पूज्य श्रीमोटा



श्रीकेशवानंदजी  
(श्रीधूनीवाले दादा)  
(साईंखेडा-खंडवा)



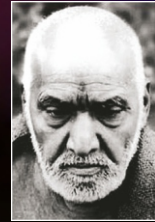
श्रीछोटे दादा  
(खंडवा)



श्रीसाईंबाबा  
(शिरडी)



श्रीबरफानी दादा  
(कायाकल्पी)



श्रीउपासनीबाबा  
(साकुरी)



श्रीस्वामी समर्थ  
(अक्कलकोट)

हरिःॐ आश्रम, सूरत - प्रकाशन ।

॥ हरिःॐ ॥

# आश्रम की अटारी से



:: लेखक ::

श्री नंदुभाई शाह



:: अनुवादक ::

भास्कर भट्ट



:: संपादक ::

रजनीभाई बर्मावाला 'हरिःॐ'

हरिःॐ आश्रम प्रकाशन, सूरत ।

॥ हरिः ॐ ॥

**प्रकाशक :**

(श्रीमोटा), हरिः ॐ आश्रम,  
 कुरुक्षेत्र महादेव मंदिर के पास,  
 जहाँगीरपुरा, सूरत - ३९५००५  
 दूरभाष : ०२६१-२७६५५६४। २७७१०४६  
 भ्रमणभाष : +९१ ९७२७७ ३३४००  
 e-mail: hariommota1@gmail.com  
 website: www.hariommota.org

© हरिः ॐ आश्रम, सूरत।

आवृत्ति	वर्ष	प्रतियाँ
प्रथम	दिसंबर २०२०	१०००
पृष्ठ :	०९ + १३९ = १४८	
कीमत :	रु. ....../-	

**प्राप्तिस्थान :**

हरिः ॐ आश्रम, सूरत - ३९५००५  
 हरिः ॐ आश्रम, नडियाद-कपडवंज रोड, जूना बिलोदरा,  
 पो. बो. नं. - ७४, नडियाद-३८७००१  
 भ्रमणभाष : ७८७८० ४६२८८

**अक्षरांकन/मुद्रक :**

प्रोम प्रिन्टर्स,  
 अ-४, उद्योगनगर, नवसारी - ३९६ ४४५  
 दूरभाष : (०२६३७) २५५७७१  
 e-mail: promserve@gmail.com

## आश्रम की अटारी से निवेदन

पूज्य श्रीमोटा के गुजराती साहित्य का हिन्दी, अंग्रेजी और अन्य भाषाओं में अनुवाद कराने का प्रस्ताव हमारे ट्रस्टीमंडल के एक सदस्य श्री रजनीभाई बर्मावाला ने रखकर बहुत बड़ी जवाबदारी का बोजा हम सभी पर डाला है, किन्तु पूज्य श्रीमोटा की कृपामदद से हम पार उतरेंगे।

इस पुस्तक के लेखक श्री नंदुभाई अपने पूर्वकाल में हीरे-जवाहिरात के व्यापारी थे। वे अपने व्यापार में प्रगति करते हुए अत्यंत धनवान एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के स्वामी थे, बाद में एक प्रखर साधक बने और प्रभुप्राप्ति के मार्ग पर काफी आगे बढ़े। साधना की। इस पुस्तक का निर्माण किया तब उनकी उम्र ७७ वर्ष थी। श्री नंदुभाई ने १०० वर्ष जीने का संकल्प किया था और उस अनुसार १०० वर्ष की आयु पूर्ण होने के कुछ समय बाद उनका शरीर छूट गया था।

श्री नंदुभाई ने इस पुस्तक में जीवन के प्रत्येक मोड़ पर श्रीमोटा के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है और आम आदमी को उसी तरह से दैनिक जीवन जीने की सीख दी है। इस नजर से यह पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं मार्गदर्शक है। उन्होंने समजाया है कि 'श्री सद्गुरु हमारे घर आये वह अलग और हम श्री सद्गुरु के घर जायें वह अलग' यह बात बहुत गहरी है। इस पर आम जनता कभी सोच भी नहीं सकती। अगर यह बदलाव हमारे में आ जाय तो समाज में अपने आप शिस्तपालन की शुरूआत होने लगे।

ऐसे ही अन्य कई विषयों पर वैविध्यपूर्ण मौलिक प्रकाश डालने से यह पुस्तक अपने आप में संसारी जीवन की मार्गदर्शिका के रूप में प्रस्थापित हुआ है। इस पुस्तक का मनन, अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि एक सामान्य संसारी जीव संत महाराज के सान्निध्य में आने के बाद अपने जीवन को हिमालय की टोच जितनी उँचाई पर ले जाने में समर्थ बनता है। श्री नंदुभाई श्रीमोटा के साथ रहने आए उसके बाद ही अपने निजी जीवन में आध्यात्मिक उन्नति की ओर प्रगति कर पाए।

इस पुस्तक के प्रकाशन कार्य में नवसारी के मे. प्रोम प्रिन्टर्स के मालिक श्री अजीतभाई गांधी ने अत्यंत भावपूर्ण सहयोग दिया है। उनकी सद्भावपूर्ण मदद से ही हम पू. श्रीमोटा का साहित्य अत्यंत कम दामों में समाज को उपलब्ध कर पाते हैं। हम श्री अजीतभाई गांधी के प्रति अंतःकरणपूर्वक खूब-खूब आभार व्यक्त करते हैं। संसारीजन को अपने-अपने संयोग में यह पुस्तक मार्गदर्शन देता रहेगा, ऐसी शुभभावना से इसका प्रथम संस्करण समाज के चरणों में समर्पित कर रहे हैं।

दि. ०८/१०/२०१६  
विजयादशमी, वि.सं.२०७२

ट्रस्टीमंडल  
हरिःॐ आश्रम, सूरत।

## लेखक का निवेदन

(गुजराती संस्करण)

आश्रम में मौनमंदिरों की स्थापना के बाद अमुक समय पर मुझे पू. श्रीमोटा के साथ आश्रम में स्थायीरूप से निवास करने का हुआ। उस समय में यानी कि ई.स. १९६० के अरसे में कुछ उत्सुक, जिज्ञासु और ज्ञानपिपासु ऐसे साधकों का निकट का परिचय हुआ। वह परिचय बढ़ा। कुछ आध्यात्मिक समज विकसित करने की और जीवन में उतारने का उनके जोश के कारण कभी-कभी किसी-किसी प्रसंग का उल्लेख करके उसमें रहे हुए आध्यात्मिक अभिगम को बतलाने का और मुक्त पुरुष की समझ विकसित करने का निमित्त खड़ा होता गया। कालक्रम में वह सब लिखाई हस्तलिखित नोंधपोथी के रूप में प्रत्येक मौनमंदिर में एक-एक नकल के रूप में रखने में आयी। आज तक में अनेक मौनार्थियों ने पढ़ा, जुगाली की और कइओं ने तो उसकी नोंध भी कर ली थी, ऐसा जानने मिला है।

उसे प्रकाशित करने की माँग तो पू.श्रीमोटा की हस्ती दरमियान वर्षों से होती आयी थी। किन्तु उस माँग को उस समय पर स्वीकार करना मुझे उचित न लगता था। पूज्यश्री के देहोत्सर्ग के बाद चार-पाँच व्यक्तियों की ओर से बहुत जोरदाररूप से और आग्रहपूर्वक उसका प्रकाशन करने का सूचन हुआ और साथ-साथ उसके लिए पैसे देने की तत्परता भी दिखाने में आई। किन्तु प्रकाशन पहले सब लेख मठारने पड़े ऐसा था।

श्री इन्दुभाई देसाई आश्रम की सेवा में दाखिल हुए बाद पहली बार कुंभकोणम् जाने के समय पर हमने वह नोंधपोथी साथ में ली और वहाँ के सभी स्वजनों की उपस्थिति में हररोज रात्रि में एक-डेढ़ घंटा पढ़ने का रखा। उस समय मुझे जो कुछ सूझता गया उसकी संक्षिप्त नोंध श्री इन्दुभाई देसाई के पास कराई और उसे पुस्तकरूप से प्रकट करने का काम मैंने उनको सौंपा। उस विषय में मैंने उनको संपूर्ण छूट दी। जोड़ना, घटाना, स्पष्ट करना, भाषा बदलना आदि तमाम बाबत का स्वातंत्र्य दिया। आखिरकार हाल में अब उसका अंतिम स्वरूप तैयार हुआ।

यह पुस्तक छपाने का प्रस्ताव तीन-चार अलग-अलग व्यक्तियों ने किया था। उन सभी का मैं अत्यंत आभारी हूँ। एक के सिवा बाकी का स्वीकार न हो सके वह स्वाभाविक है। इससे वे मुझे माफ करेंगे। इन्लेन्ड में रहकर, पूरा दिन जीवननिर्वाह के लिए श्रम द्वारा उपार्जन करके



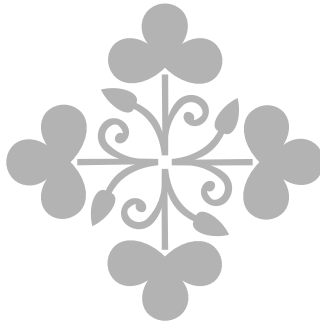
अपनी वृद्धावस्था होने पर भी जो अच्छी ऐसी रकम पू. श्रीमोटा के पुस्तक प्रकाशन के लिए खर्च करते हैं, ऐसे श्री नीछाभाई सोलंकी की 'आश्रमनी अटारीएथी' को प्रकाशन करने की इच्छा का स्वीकार करते बहुत बहुत आनंद होता है। पू. श्रीमोटा के पुस्तकों का प्रकाशन करने में और परदेश में घर-घर जाकर उसका प्रसार करने में उनका उत्साह देखकर मेरा दिल झुक जाता है। उनका हम जितना आभार मानें उतना कम हैं। उनके परिवार के सभी सभ्यों का उसमें साथसहकार है, इससे हम उनके भी आभारी हैं ही।

इस पुस्तक का आवरण सुंदर रीत से खूब भाव से तैयार कर देने के लिए चित्रकार श्री 'जय' पंचोली का हम आभार मानते हैं।

मे. प्रणव पिन्टर्स के श्री प्रवीण एन. गामी ने यह पुस्तक शीघ्रता से छाप दिया उसके लिए उनका और उनके कर्मचारीगण का आभार मानते हैं।

दीपावली वि.सं. २०३७  
ता. २७-१०-१९८१  
हरिॐ आश्रम,  
नडियाद - ३८७००१

नंदुभाई  
मेनेजिंग ट्रस्टी



## सहायक लेखक का निवेदन (गुजराती संस्करण)

‘आश्रमनी अटारीएथी’ वह हस्तलिखित स्वरूप में जब सर्व प्रथम २१ दिन के मौन में पढ़ने में आया था, तभी बहुत ही पसंद आ गया था। उसमें साधक के लिए गहरी आंतरसूझ, सूक्ष्म विवेक, मुक्त पुरुष की अचूक समझ विकसित करने के लिए बहुत-बहुत पाथेय पड़ा हुआ है। उस समय पर मैंने तो अक्षरशः मेरी डायरी में लिख लिया था। जब अहमदाबाद के उत्सव में ‘जीवनस्फुल्लिंग’ नाम के पूज्य श्रीमोटा के ग्रंथ का संपादन कार्य मुझे सौंपा गया था, तब सर्व प्रथम पूज्य श्रीमोटा का पूर्ण पुरुष की विभावना को स्पष्ट करता हुआ एक लेख और दूसरा सेवक (साधक) कैसा होना चाहिए, उसका विश्लेषण करता हुआ पू. श्री नंदुभाई का लेख मैंने लिया था। वह लेख मेरी डायरी में ‘आश्रमनी अटारीएथी’ में से लिख लिया था, उसके आधार पर लिया था। सच्चे सेवक के बारे में मेरी भावना का प्रतिबिंब उस लेख में मुझे दिखा था, इससे मुझे वह बहुत पसंद आया था।

हरिःॐ आश्रम, नडियाद में सेवा के लिए समर्पित होने के बाद सन् १९७८ के जुलाई में गुरुपूर्णिमा निमित्त से पू. नंदुभाई के साथ दक्षिण भारत के प्रवास में जाना हुआ। तब कुंभकोणम् आश्रम में उस हस्तलिखित नकल का हररोज रात्रि में एक-डेढ़ घंटा वाचन करने का प्रबंध हुआ था। मैं पढ़ूँ, सब सुने और पू. नंदुभाई जहाँ-जहाँ स्पष्टता की आवश्यकता हो वहाँ करते या तो उस-उस प्रसंग की भूमिका समझाकर अधिक स्पष्ट करते और मुझे नोंध भी कराते थे। उसके बाद उसे नये स्वरूप में फिर से लिखने का कार्य मुझे सौंपा गया।

ऐसे कार्य का आनंद तो हो ही। किन्तु इसमें का अधिकतर लेख तत्कालिन प्रसंगों का निरूपण करने के लिए लिखा हुआ था। पूज्य श्रीमोटा का अनेक बार निर्देश भी करने में आया था। उस समय तो पूज्यश्री की हस्ती थी। उन बातों को बीस वर्ष बीत गये। अब वे सब हकीकत लम्बे भूतकाल की हो गई। पूज्य श्रीमोटा ने भी स्थूल देह का त्याग किया। इससे वह सब आज प्रकाशित करना हो तो काल के तमाम संदर्भ बदलने पड़े। इसके लिए भारी फेरफार करना पड़े। यद्यपि इस विषय में संपूर्ण छूट देकर पूज्य नंदुभाई ने मुझे निश्चित बनाया था। फिर भी मेरे मन में जो हलचल हो रही थी, वह यह कि यह लेख अनेक स्वजनों ने मौनअवधि दरमियान पढ़े हुए हैं, इससे



ऐसे फेरफार रुचिकर हो या क्यों ? यह एक प्रश्न तो था ही । साथ-साथ उसमें जोड़ने की, घटाने की, अलग-अलग समय पर अलग-अलग व्यक्ति को लिखे हुए पत्र होने से पुनरुक्ति को टालने की, भाषा बदलने की और अनेक प्रसंग नये जोड़कर विषयवस्तु को अधिक स्पष्ट और वेधक बनाने की आवश्यकता थी । अनेक ठिकाने बातचीत जैसी शैली थी । यद्यपि ऐसी शैली का अपना सौंदर्य है ही । फिर भी समग्र पुस्तक में अखंडसूत्ररूप से वह न हो तो रस निष्पत्ति खंडित होने की संभावना रहती है । इससे जो कुछ लेखनशैली हो, वह एक-सी अखंडित बनी रहनी चाहिए ऐसा मुझे लगा था । बहुत लेखों का स्वरूप नोंधरूप में था, उसे विस्तृत करने की अनिवार्यता थी ही । प्रकाशन में उसे लेने के लिए ये सब फेरफार आवश्यक थे ही । यद्यपि ऐसे फेरफार करते मुझे क्षोभ होता था । किन्तु दूसरा कोई उपाय न था । तीनेक लेख ऐसे हैं कि जिसमें पू. नंदूभाई की भाषा बहुत प्रवाही और वेधक है, इससे उन्हें ज्यों का त्यों रखे हैं । उन्हें बदलने की आवश्यकता बिलकुल नहीं लगी है । इन सब फेरफार के लिए वाचकवर्ग मुझे निभा लेगा और ऐसा करने में जो कुछ त्रुटि रह गई हो या मूल लेखक को अन्यायकर्ता कुछ हुआ हो तो मुझे माफ करेगा । विषय को स्पष्ट करने के लिए कुछ संस्कृत अवतरणों या कहावतों को जोड़ा है । उस छूट के लिए पूज्य नंदुभाई की क्षमायाचना करता हूँ ।

पूज्य श्रीमोटा के बारे में हमारी समझ में यह पुस्तक एक मूल्यवान वृद्धि करेगा वह निर्विवाद है, इतना निर्देश करके विराम लेता हूँ ।

- इन्दुभाई देसाई  
(ट्रस्टी)

हरिःॐ आश्रम, नडियाद ।





## अनुक्रमणिका

१. मुक्त की समदृष्टि .....	००१
२. सेवाधर्म परम गहनो .....	००७
३. राम-कैकेयी का प्रसंग .....	००९
४. महत्त्व कितना और कब ? .....	०१२
५. मौनार्थी डो. जगन्नाथ पटेल की विस्मयकारी घटना .....	०१८
६. पूज्य श्रीमोटा की अनासक्ति .....	०२८
७. स्थिति और वृत्ति .....	०३४
८. ईर्ष्या-द्वेष-मत्सर .....	०३७
९. आशीर्वाद के साथ पुरुषार्थ और जागृति की जरूरत .....	०४०
१०. आश्रमों का अस्तित्व — अहम् को पिघलाने के लिए .....	०४३
११. मंत्रशक्ति का प्रताप .....	०४७
१२. बाजार में अर्धनग्न शरीर से .....	०५१
१३. साधक और गुरु की स्थूल निकटता .....	०५३
१४. प्रभु और भक्त का ऋण .....	०५७
१५. मुक्त और मुखकान्ति .....	०५८
१६. भाव-भक्ति बढ़ाने का मौका .....	०६१
१७. प्रसन्नता .....	०६३
१८. आश्रम की अटारी से .....	०६५
१९. मौनमंदिर और बहनें एवं मौनमंदिर की विशिष्ट रचना का हेतु ..	०६८
२०. मुक्त सम्बन्धी समझ .....	०७२
२१. योग्य आदर-मान .....	०७८
२२. मुक्तात्मा और समूह की उत्तेजित वृत्तियाँ .....	०८२
२३. महारुद्र यज्ञ .....	०८५
२४. विवाह-सगाई में कड़ी निगरानी .....	०८८
२५. गैबी मददें : गलत दिखकर भी मदद करना और अशिलल गालियाँ .....	०९१
२६. बोओ वैसा काटो.....	०९५
२७. मुक्त और चेतनाशक्ति का प्रदान .....	०९८
२८. मौनमंदिर के अनुभव .....	१०१
२९. जीवनदृष्टि का अभाव .....	१०८



३०. पूज्यश्री और अलंकार .....	११०
३१. वडताल के पूज्य मोतीबहन .....	११५
३२. आहुतियज्ञ .....	११८
३३. कितनेक प्रतीकों के अर्थ .....	१२२
३४. मौनमंदिर में मुखिया .....	१२६
३५. पूज्य श्रीमोटा के दानों की भूमिका .....	१२९
३६. आरती .....	१३४
३७. साधना-मर्म .....	१३५
३८. श्रीमोटा के जीवन-प्रसंग .....	१३७



## आश्रम की अटारी से

### १. मुक्त की समदृष्टि

राम झरोखे बैठकर सब का मुजरा लेत ।  
जिसकी जितनी चाकरी इतना तनखा देत ॥

तुलसीदास की ये पंक्तियाँ विचारपूर्वक मनन करने जैसी हैं । सामान्य मनुष्य की ईश्वर के बारे में जो रूढ़िगत मान्यता है, उससे कुछ अंशो में भिन्न ऐसी बात इन पंक्तियों में अभिप्रेत है । सामान्य रीत से हम तो ईश्वर को दयालु और करुणा का सागर मानते हैं । उसे न्याय तौलने-वाला, देवें उतना ही देनेवाला या कर्म का बदला देनेवाला ऐसी कल्पना करना वह मनुष्य को स्वाभाविक रीति से पसंद नहीं है । ईश्वर को “करुणासागर” मानकर पाई देकर रुपया ले लेने की जोरदार वृत्ति हमारे में रही हुई है, वह सहज प्रकार से समझ सके वैसा है ।

इससे विरुद्ध ऊपर की पंक्तियों में श्रीतुलसीदासजी तो श्रीराम यानी कि भगवान को न्याय तौलनेवाले के स्थान पर बिठाते हैं । जिसकी जितनी चाकरी, इतना ही वेतन देने की बात करते हैं, थोड़ा भी कम-बेश नहीं । यहाँ हमें कई गुजराती कहावतें प्रतिबिंबित होती हों ऐसा लगता है, “जैसी जिसकी करनी वैसी उसकी भरनी ।” “बोवे वैसा काटे ।” संस्कृत में भी उक्ति है कि “**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी ।**” जैसी जिसकी भावना वैसी उसकी गति और मति ।” इतना याद रखना चाहिए कि ‘चीनी का लड्डु देकर गहना निकालने देवे’ ऐसा प्रभु भोला नहीं है । वहाँ तो वही न्याय प्रचलित है, “जैसा देंगे वैसा मिलेगा ।”

जैसा भगवान की बाबत में है वैसा ही कुछ मुक्तों की बाबत में भी है । मुक्त के साथ संपर्क में भी हम ऐसा अनुभव करते हैं कि “जिसकी जितनी चाकरी इतना तनखा देत ।” तब हम आश्चर्य और व्याकुलता भी अनुभव करते हैं । हमें सहज रूप से ऐसा विचार आता है कि यदि जगत में सामान्य मनुष्य भी अपना व्यवहार उसी प्रकार करें, उसी तराजु पर तौलता है तो ऐसे सामान्य मनुष्य और मुक्त के बीच क्या फर्क ? ऐसा प्रश्न उठे वह स्वाभाविक भी है । लोग कहते हैं कि संतों की तो समदृष्टि होनी चाहिए ।



क्यों मुक्त पुरुष सबको एकसमान रीति से नहीं चाहते ? उनकी चाहना-भावना का व्यक्तत्व एकसमान रीत से क्यों नहीं करते ? उनमें पक्षपात क्यों होना चाहिए ? एक और दूसरे के बीच कम-बेश उन्हें क्यों होना चाहिए ? क्यों किसी का सत्कार करते तो किसी की उपेक्षा करते भी दिखते हैं ? किसी को भोजन में या नास्ते में अलग रखी हुई मिष्ट या प्रिय बानगी देवे और किसी को सामान्य वस्तुएँ देवें तो किसी को कुछ भी न दे । किसी को सामान्य मार्गदर्शन भी न दे । किसी को स्पष्ट व्यक्त प्यार करे तो फिर किसी के सामने भी ना देखे । यह सब भेदभाव मुक्त के वर्तन में क्यों ? ऐसी प्रश्नमाला कइयों के मन में उठती होती हैं और आखिर मुक्त पुरुष को एक सामान्य मनुष्य मानने तक उनका मन उन्हें प्रेरित करता है ।

ऐसा होता है उसका कारण यह है कि सामान्य मनुष्य समदृष्टि का जो अर्थ करता है, वह गलत है । सामान्य जन ही समदृष्टि का अर्थ “ सर्व के प्रति समान दृष्टि—समान बरताव—एकसमान व्यक्तव्य “ऐसा करता है । सामान्य जन के इस अर्थ के अनुसार तो यदि मुक्त के पास राजा या रंक, उसका भक्त या अपरिचित आवे—हरकोई जो आवे उन सभी के साथ उसका बाह्यवर्तन और व्यक्तत्व एक ही प्रकार का होना चाहिए । थोड़ासा भी कम-बेश भाववाला न होना चाहिए । मुक्त की वाणी में उन सबके लिए एकसमान उष्मा हो, उसके सत्कार में एकसमान हकलाहट हो । उसके सभी के साथ के व्यवहारवर्तन में एकसापन हो । जब सामान्य जन मुक्त की बाबत में ऐसा नहीं देखता है, तब उसके प्रति अन्यथा भाव रखता है । उस मुक्त को एक सामान्य जन की कक्षा का मान लेता है या तो उसे यह समस्या समझ में नहीं आती है । यह एक सार्वत्रिक प्रकार की मुश्किल होती है ।

हमने “ समदृष्टि ” का सामान्य जन का अर्थ देखा । अब हम मुक्त की “समान दृष्टि”, सर्व को एकसमान रीति से देखने का स्वभाव, “ “ सर्व के प्रति एक-सा एकसमान भाव ” इत्यादि जो ख्याल है, उसका सच्चा अर्थ समझने का प्रयास करें । **मुक्त की समदृष्टि का सच्चा अर्थ यह कि मुक्त के हृदय में सर्व के प्रति करुणा का भाव एक-सा और एकसमान; सर्व का श्रेय करने की भावना एकसमान । थोड़े में अंतर्गतरूप से हृदय में एकसमान भाव । वह किसी का अहित न सोचे, न चाहे । किसी के प्रति नकारात्मक वृत्ति उसे न उठे । सर्व के प्रति उसकी प्रेमधारा एकसमान बहती रहती है । बरसती रहती है । मुक्त को किसी के भी प्रति अभाव नहीं होता । रागद्वेषरहित होने के कारण अंतर्गतरूप से न्यूनाधिक न हो, क्योंकि मुक्त**





सर्व आत्माओं को अपनी आत्मा के समान ध्यान से देख सकता है । **आत्मवत् सर्वभूतेषु ।**” ऐसी उसकी दृष्टि होती है, किन्तु व्यक्तत्व में जरूर सामान्य दृष्टि से भेद-फर्क दिखेगा । बहिर्वर्तन में यदि ऐसा अभिगम दिखावे तो तो अव्यवस्था ही हो जायेगी । इसलिए समान बहिर्वर्तन असंभव है । बाह्य रीति से मुक्त का बरताव सामान्य मनुष्य जैसा लगेगा । किन्तु उसकी पार्श्वभूमिका तो दैवी ही होगी । “Human in front Divine in back” उस दिव्य भूमिका पर स्थित रहकर “ जिसकी जितनी चाकरी इतना तनखा देत” के न्याय से मुक्त वर्तन करते हैं । जैसा हमारा भाव उस प्रमाण में उसका व्यक्तत्व और उसका प्रत्याघात । मुक्त पुरुष यों तो आघात-प्रत्याघात के द्वंद्व से पर हैं और फिर भी उस नियम के वश वर्तन करते हमें दिखते हैं । वह आघात-प्रत्याघात के नियम के ताबे है भी और नहीं भी है । यह है उसकी विशिष्टता ।

मुक्त के मन कोई उच्च नहीं, कोई नीच नहीं; कोई मालदार नहीं या कोई गरीब नहीं, उसका अर्थ यह नहीं कि उस पर बहुत भाव रखनेवाले, उसे भजनेवाले और उसकी सेवा करनेवाले एक विद्वान पंडित और जिसके साथ उसका कोई परिचय मुक्त पुरुष को नहीं है, ऐसी व्यक्ति वैसे दोनों का वे एकसमान सत्कार करेंगे । वह बिलकुल असंभव है । “ जिसकी जैसी चाकरी वैसा उसे तोहफा ” वह है बाह्य बरताव का नियम । हाँ, मुक्त उसके भक्त या निंदक दोनों में आंतरिकरूप से एकसमान भाववाला होगा । एक के कारण दूसरे को अन्याय नहीं करेंगे, एक का भला चाहेंगे और दूसरे का बुरा चाहेंगे वैसा कभी नहीं होगा । आंतरिक करुणा दोनों के प्रति, सर्व के प्रति एकसमान बहेगी ।

मुक्त के बाह्य बरताव या बाह्य व्यवहार पर से उसे यदि मापेंगे तो गलती करेंगे । अरे ! उतना ही नहीं, लकिन यदि सामान्य जन को भी उसके बहिर्वहेवार की कक्षा से मापेंगे तो अचूक हम उसके प्रति अन्याय का आचरण कर बैठेंगे । तो फिर मुक्त की बात ही क्या ! **सच बात तो यह है कि कर्म पर से किसी को नाप नहीं सकते । कर्म के पीछे रहे हुए भाव का ही महत्त्व है ।** और ऐसे कर्म के पीछे रहे हुए अंतर्गत भाव का पता दूसरे को कैसे पड़ेगा ? इससे नापना ही न करे वह उत्तम है । फिर भी मनुष्य मन नापे बिना नहीं रह सकता, वह भी उतना ही सच है । इससे मुक्त के बाह्य रीत से बरताव कराते भेदभाववाले वर्तन का मूल्य हम निर्धारित न करें वही योग्य है ।

कुछ व्यावहारिक उदाहरणों से वह बात स्पष्ट रीति से समझ सकेंगे ।





हमें हमारी माँ पर, पत्नी पर, पुत्री पर, बहन पर, एकसमान आंतरिक भाव होते हुए भी 'उस भाव को व्यवहार में बाहर व्यक्त करते समय उसका व्यक्तव्य एकसमान रीति से कभी नहीं करेंगे, वह हमारे सबके अनुभव की बात है। यह आसानी से समझ सके वैसी बात है। सेठ को जैसे मुनीम के प्रति, गुमास्ता के प्रति, चपरासी के प्रति एकसमान प्रीति होते हुए भी व्यवहार में वे उनके साथ अलग-अलग रीति से बरताव करते हैं। यह सब कोई समझ सकता है, तो फिर मुक्त की बाबत में क्यों नहीं समझ सकेंगे ?

सुदामा को श्रीकृष्ण भगवान के वहाँ अतिथि के रूप में जाने का हुआ, तब श्रीभगवान ने उनके चरण पखारे और चरणामृत का पान किया, उन्हें प्यार से गले लगाया और उच्च आसन पर बिठाया। सुदामा के बदले कोई सामान्य भिक्षुक, याचक श्रीकृष्ण भगवान के घर गया होता तो क्या उसे सुदामा जैसा सत्कार मिलता ? प्रभु के धाम में सुदामा को वैसा सत्कार मिला, क्योंकि सुदामा की भक्ति जैसे सत्कार के लायक थी।

श्रीकृष्ण भगवान ने पांडवों का विजय चाहा नहीं की कौरवों का। यह स्पष्ट रीत से जाहिर हकीकत है। यदि उन्होंने बाह्य आचरण में लोगों की समझ की समानता अपनाई होती तो तो उन्हें एक का भी पक्ष लेना नहीं चाहिए था, किन्तु वैसा नहीं हुआ। फिर, पांडवों में भी विराट दर्शन का और गीता उद्बोधन का अधिकारी श्रीकृष्ण ने अकेले सिर्फ अर्जुन को ही माना। दूसरे किसी भी भाई को नहीं। उनको पाँच पांडवों के प्रति एकसमान भाव होते हुए भी ऐसा हुआ। इसे क्या कृष्ण का पक्षपाती अभिगम कहेंगे? जगत यदि इसे पक्षपाती अभिगम माने तो भले वैसा माने, किन्तु वास्तविक रूप से वैसा नहीं है। श्रीराम ने बालि को मारकर सुग्रीव को राज्य दिया, रावण का संहार करके विभीषण को राज्यासन पर बिठाया। इसमें भी बाह्यदृष्टि से भेदभाव दिखेगा। तो क्या इससे ऐसा माना जाय कि श्रीराम या श्रीकृष्ण पक्षपाती थे ? सच बात तो यह है कि जैसे समर्थों को तो आंतरिक भूमिका में सब समान ही है। भेदभाव कहीं भी जरासा भी नहीं है। इसी अर्थ में तुलसीकृत रामायण में भक्त कवि ने गाया है कि,

*“राम झरोखे बैठकर सब का मुजरा लेत ।  
जिसकी जितनी चाकरी इतना तनखा देत ॥”*

क्यों सबको समान वेतन देने का कवि ने न गाया? श्रीमद् भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि :- “ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्”  
(गीता - ४/११)





“ जो मुझे जिस प्रकार भजता है, उसे उसी प्रकार से मैं भजता हूँ। ”  
 “ फिर गीता में अन्य स्थल पर ऐसा भी कहा है, “ मुझे मेरे भक्त भी प्यारे हैं। ” “ **भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।** ” (गीता १२/२०) इस पर से क्या यह कह सकेंगे कि भक्त ज्यादा प्रिय, अन्य जन प्रिय नहीं या कम प्रिय? इसलिए श्रीकृष्ण पक्षपाती थे ? नहीं, ऐसा नहीं है। अब देखिए, दूसरी जगह पर उसी गीताजी में कहा गया है कि, “ चांडाल, वेश्या, पंडित सब में मैं हूँ और इन सब के प्रति मेरी समान दृष्टि है। ” इसका अर्थ यह नहीं कि श्रीकृष्ण श्वान को और पंडित को एकसमान व्यक्तव्य दिखायेंगे।

यदि बाहर के बरताव में और अभिव्यक्ति में एकसमानता हो या होती तो यह जगत ही नहीं हो सकता था। इस विश्व में प्रभु ने किसी को श्रीमंत तो किसी को रंक, किसी को राजा तो बहुतों को प्रजा, ऐसे अनेक स्तर की कक्षाएँ बनाई हैं, तो क्या उसे अपने सर्जन में अंतर या असमानता होगी ? उसका उत्तर “ नहीं ” में ही हो सकता है।

श्रीरामकृष्ण परमहंस नरेन्द्र (विवेकानंद ) को एक तरफ बुलाकर के मिठाई खिलाते जबकि उसके साथ आये हुए मित्रों को कुछ भी नहीं देते थे ! क्या श्रीरामकृष्ण पक्षपाती थे ?

ऐसे तो अन्य कई मुक्तों के जीवन के दृष्टांत दिये जा सकते हैं यानी मुक्त का बाहर देखे जानेवाले भेदभाववाले वर्तन का मूल्य हम न निकालें वही हितावह है।

एक बहन ने गाया है कि:-

*“ तुम्हारे प्रति नहीं बहता मेरा भक्तिभाव ।  
 फिर भी चाहूँ हृदय में तुम्हारा प्रेमभाव ॥ ”*

यह किस प्रकार हो सकता है ? हमें मुक्त के प्रति संपूर्ण भक्तिभाव नहीं रखना है और फिर भी उसका प्रेमभाव संपूर्ण चाहते हैं और यदि वह न मिले तो उसे पक्षपाती मानते हैं। यह कहाँ का न्याय ? ऐसा है पामर मानव मन ! बाकी एक बात स्पष्ट समझ लेने जैसी है कि वह तो जितना और जैसा देवें वैसा और उतना देनेवाला है।

पृथ्वी के भीतर चेतनरस एकसमान एक ही प्रकार का बह रहा है। फिर भी भूमिका अलग होने से उस रस में से प्रकट होनेवाली विविधता कैसी विविध प्रकार की है ! मीठा, तीखा, कडुआ, पीला एक अलग-अलग रूप से वह व्यक्त होता है। जैसी-जैसी भूमिका और बीज।





अंतर्गतरूप से एकसमान भावप्रवाह होते हुए भी व्यक्तव्य में तो सामने के प्रकृतिभेद से अलगता मुक्त के व्यवहार में भी अनुभव करनी ही पड़ेगी।

मुक्त तो आयना रूप है। उसका वर्तन हमारे बारे में विचार करते रहने के लिए योग्य उदाहरणरूप हो सकता है, यदि जागृति रख सके तो।





## २. सेवाधर्मो परम गहनो

सेवाधर्म बहुत गहन माना गया है। “**सेवाधर्मो परम गहनो योगीनामस्यगम्यम्**” ऐसा संस्कृत विधान है। योगियों को भी दुष्कर ऐसा यह सेवाधर्म है। ऐसा क्यों? क्यों उसे बहुत गहन माना गया है? उसके रहस्य में शरणागति का तत्त्व जिम्मेदार है। शरणागति योग्य विकसित न हुई हो, वहाँ तक सेवाधर्म ठीक बजा नहीं सकते। सेवा और शरणागति साथ-साथ जाते हैं और **सच्ची शरणागति अहम् को पिघलाये बिना असंभव है**। साधना के सर्वोच्च सोपान का स्पर्श किये बिना और वहाँ स्थित हुए बिना संपूर्ण सच्चा सेवक होना वह असंभव है। इससे यदि सच्ची सेवा करते जान जाये तो जीवन का कल्याण अपनेआप हो जायेगा।

**सेवक अर्थात् सदा तत्पर**। सेवक अर्थात् जीवनविकास के मार्ग का ज्ञानपूर्वक स्वीकार। कुछ भी वह न जानता हो या न जान सकता हो ऐसा नहीं होता है। अलबत्ता, जगत के व्यवहार के सभी क्षेत्रों में कोई भी पारंगत नहीं हो सकता। किन्तु सेवक को जब जिसकी आवश्यकता हो, तब वह उसे सीख ले सकता है। उसको सिखना मुश्किल नहीं होता। वह ऊबता नहीं। किसी से भागता नहीं। उसकी ग्रहणशक्ति तीव्र होती है। धारकशक्ति स्थिर, धीर होती है। सेवक सदा गतिशील और सदा उल्लासित, उमंगी और किसी भी परिस्थिति को सँभालने की शक्ति रखता है। उसे नीरोगी भी होना चाहिए।

सेवक की स्मृति यथायोग्य समय पर यथावत् काम देनेवाली होती है—होनी चाहिए। उसकी कार्यशक्ति अनेक गुना बढ़ सकती है, कुछ भी कहने में आया हो, वह तुरंत स्मृति में धारण हो जाना चाहिए और उसका जब और जहाँ उपयोग करना हो, वहाँ और तब उसके उपयोग में आवे। इसके लिए एकाग्रता चाहिए। फिर उसमें अवलोकनशक्ति (Observation Power) भी अच्छी तरह विकसित हुई होनी चाहिए। तो उसकी सेवा में अच्छा उठाव आ सकेगा।

सेवक का नौद पर काबू होना चाहिए। भूख और प्यास उसके काबू की वस्तु बनकर रहना चाहिए। स्फूर्ति, चपलता, दक्षता, सावधानता, चकोरता और शीघ्रता उसमें होना चाहिए। शीघ्रता नहीं होगी तो कार्य यथायोग्यरूप से नहीं होगा। कार्य को उत्तम प्रकार से करने के लिए व्यवस्थिति, दक्षता के साथ-साथ शीघ्रता भी होनी चाहिए। शीघ्रता वह



सेवा का एक आवश्यक अंग माना गया है। **शीघ्रता अर्थात् गति**। रजस के ऊपर का काबू। ज्ञानपूर्वक का रजस। इन सबके अतिरिक्त मन की नीरवता जितने प्रमाण में ज्यादा उतनी उसकी सेवा ज्यादा शोभित होगी। मन शांत, नीरव न हो तो प्रसन्नता नहीं होगी। शरणागति नहीं होगी। इस प्रकार सेवक को सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित बने हुए रहना चाहिए। और ऐसा होगा तो ही बुद्धि भी तेजस्वी और तीक्ष्ण होगी। सेवक की बुद्धि भी सूर्य के समान तेजस्वी चाहिए और इन सब गुणसमूह के अतिरिक्त कलश रूप से भक्ति प्रकट होनी चाहिए। **भक्ति के बिना सर्वांगी सच्ची सेवा असंभव। ऐसे हम देखें तो सेवा अर्थात् ज्ञान, कर्म और भक्ति का त्रिवेणीसंगम, तीनों योग में पारंगत**। सेवा करने के लिए ऐसे सब गुणों का विकास करना चाहिए और साथ-साथ भक्ति प्रकट करनी चाहिए या प्रकट होनी चाहिए। यह सब देखते हुए आध्यात्मिक उच्च कक्षा पर प्रकट हुए बिना सेवाद्वय अपना सकते नहीं अर्थात् कि सफलतापूर्वक यथायोग्य रूप से बजा नहीं सकेंगे। जीवनविकास के लिए सेवाद्वय अपनाना सहायक है। बहुत सहायक है। प्रभु के, गुरु के या किसी के भी सच्चे सेवक होना यानी जीवनविकास के सर्वोच्च सोपान पर स्थित होने का आदर्श रखकर उसे प्राप्त करना। ऐसे ही किसी कारण से सेवाद्वय को परम गहन माना होगा।



### ३. राम-कैकेयी का प्रसंग

“चंपू रामायण” में दो-एक प्रसंगों का वर्णन है। वे बहुत वेधक और मार्मिक हैं। वनवास जाते समय और वनवास से वापस आते समय ऐसे दोनों समय राम कैकेयी के चरणस्पर्श करने जाते हैं। उन दोनों प्रसंगों के दो सुंदर श्लोक हैं। राम की जो छवि लोगों के हृदय में बसी हुई है, उसे कवि ने सुंदर रीति से व्यक्त की है। वनवास जाते समय कैकेयी के चरणस्पर्श करते हुए राम कहते हैं :-

*“वनभुवि तनुमात्राणमाज्ञापितं मे,  
सकलभुवनभारः स्थापितो वत्समूर्ध्नि ।  
तदिह सुकरतायामावयोस्तर्कितायां,  
मयि पतति गरीयानम्ब ते पक्षपातः ॥”*

हे माता! आपने मुझे वन में जाने की आज्ञा दी। सिर्फ मेरे जैसे को अपने शरीर की ही रक्षा करने का कार्य दिया है और आपके पुत्र (भरत) के सिर पर संपूर्ण विश्व की रक्षा करने का (अयोध्या के राज्य का) बोजा रखा है। इन दोनों में ज्यादा सरल कौनसा है, उसका विचार करता हूँ तो मुझे लगता है कि हे माता, आपने मेरे तरफ ही पक्षपात दिखाया है।

(हमारी विरासत और वैभव, पृष्ठ - ३६)

इस प्रसंग से कवि ने समाज को कितने भव्य आदर्श का उपहार दिया है ! वनवास में आनेवाली मुश्किलें, दुःख और संताप को उस प्रकार न मानते हुए, उसे उत्तम भेंट, उपहार और आनंदप्रद, सत्कारपात्र मानकर श्रीराम अपनी प्रसन्नता में वृद्धि करते हो, उस प्रकार निरूपण किया है।

एक प्रकार से देखें तो गादीत्याग और अतिरिक्त में वनवास का जीवन देकर कैकेयी ने उनका जानबूझकर अहित किया है, किन्तु श्रीराम तो विश्व की उस दृष्टि से देखते ही नहीं हैं। वे तो अपना जानबूझकर अहित करनेवाले के वैसे कदम में भी अपना श्रेय देखते हैं। अपने मन-चित्त में वैर, द्वेष, ईर्ष्या का रंजमात्र भी डंक न लगे, उसके लिए उससे कहीं उच्च विचार (पक्षपात का) रखते हैं। इस प्रकार श्रीराम स्वयं तो प्रभु ने जिस



परिस्थिति का निर्माण किया है, उसमें उसके परम मंगलकारी करुणामय हस्त के दर्शन करते हैं, यह है आर्य आदर्श ! यह है जीवन की सौजन्यभरी उत्तमता ! हमारे प्राचीन पूर्वजों के पास से यदि कोई सच्ची शाश्वत विरासत मिली हो तो वह यह है ।

जब-जब किसी की ओर से हमें अन्याय होता लगे, हमें नुकसान करने का लगे, हमें दुःख दिया हो ऐसा लगे, जीवनसुख जो हाथ में हो, वह छीना जा रहा हो, उस वक्त भी अन्यायकर्ता के प्रति, नुकसानकर्ता के प्रति, दुःख देनेवाले और सुख को छीन लेनेवाले के प्रति आभारवशता का मनोभाव रहे तो समझें कि हमारे में सात्त्विकता प्रतिष्ठित हो रही है । ऐसा प्रतिभाव वह मात्र कल्पना का विषय नहीं है । बहुतों के जीवन में ऐसा आचरण किया गया है । जीवन के विषम वक्त में ऐसे प्रसंग याद आ जाते हैं, सहज स्मरण हो जाते हैं और वैसे होते हुए भी प्रसन्नता बनी रहे, ऐसा अनुभव हो, प्रसन्नता पनपती जाती हो, ऐसा लगे तो जानना कि काम पक गया है या पकने पर है । श्रीराम का दूसरे दिन सुबह तो राज्याभिषेक होना था । उसके बदले वन में जाने का होता है । कैसा परस्पर विरोध ! फिर भी उन्होंने कैकेयी के प्रति थोड़ी भी कटुता रखे बिना माता के प्रति प्रेम और आदर के साथ कैसी बात सुमधुर रीति से की ! रामायण का यह दृष्टान्त परम उज्ज्वल और पावनकारी है ।

अब वन में से वापस आकर अयोध्या में प्रवेश करते समय श्रीराम का अभिगम कैकेयी के प्रति कैसा है वह देखें !

वन में से वापस आकर राजमहल में प्रवेश करके सबसे पहले वे कैकेयीमाता के चरणस्पर्श करने जाते हैं । अपनी जननी कौशल्या रामवियोग में तरसती है और राम के आगमन के साथ कैसे हर्ष से बावरे बने होंगे वह तो सहजता से कल्पना की जा सकती है । श्रीराम अपनी ऐसी जननी को पहले मिलने जाने का सोचते नहीं हैं । उनके मन में अनेक करुणामय विचार आये होंगे । मेरे गादीत्याग और देशत्याग के लिए कारणभूत मानी गई भरतमाता कैकेयी को आज सब धिक्कारने के वातावरण में होंगे । और कैकेयीमाता की क्या स्थिति हुई होगी ! कैसे लज्जा से, शर्म से मर रहे होंगे ! उन्हें शोकसागर में डूबने से और ज्यादा लज्जित होने से मुझे उबारना चाहिए, ऊँचे उठाना ही चाहिए । और वह तब ही संभव होगा कि उनके प्रति थोड़ा भी कटुता के डंक के बिना उन्हें प्रेम और सम्मान के उच्च सिंहासन पर बिराजमान किया जाये । इससे ही श्रीराम ने कैकेयीमाता के पहले चरणस्पर्श करने जाने का विचार किया । यह है श्रीराम का करुणाभरा सूक्ष्म विवेक ।





कवि ने यहाँ श्रीराम के पात्र द्वारा अपने को दुःख देनेवाली व्यक्ति की मनोवृत्तियों का भी कैसा सूक्ष्म संवेदनशील, सजग ख्याल रखा है! श्रीराम और रामायण ने जिन लाखों - करोड़ों लोगों के मन-चित्त हर लिए हैं, वह ऐसे कारणों से श्रीराम वन में से वापस आकर कैकेयी के चरणस्पर्श करते हुए कहते हैं :-

“तातरन्नेहो भरतमहिमा पौरुषं वायुसूतोः  
सरव्यंचापि प्लवगनृपते क्वापि सौमित्रिभक्तिः ।  
सीतासत्यं मम भुजबलं वैरिणां वैरभावः  
ज्ञातं सर्वं तव चरणयोर्मातरेषः प्रसादः ॥

हे माता! पिता का स्नेह (वह कैसी अनमोल वस्तु है!), भरत का भ्रातृभाव (कैसा महिमाशाली है!), हनुमान का पौरुष, वानरों में भी मैत्री बनाये रखने की सच्चाई, लक्ष्मण की (मौन) भक्ति, सीता का सत, मेरी भुजाओं का बल, दुश्मनों की (रावण की) दुश्मनी, यह सब कैसे है, वह सिर्फ तेरी कृपा से ही मैं जान सका हूँ। यह तेरा प्रसाद मुझे मिला है।

सामनेवाले के राई जितने गुण को, उपकार को पर्वत समान मानकर चलना वह उदात्त भव्य भाव है! किन्तु यहाँ तो कैकेयी के राई जितने भी उपकार या गुण नहीं है। है सिर्फ स्वार्थ, द्वेष, ईर्ष्या का प्रतिघोष और उससे प्रेरित होकर परिणाम में प्राप्त हुए परम कष्टदायी वनवास के प्रसंग। श्रीराम को तो संपूर्ण गुण के अभाव में से गुणों का भंडार ढूँढ़ने का भगीरथ भव्य कार्य करना पड़ा है। कडुए घूंट में से — सच कहें तो — जहर के घूंट में से उन्होंने अमृत ढूँढ़ा है और प्राप्त किया है। यह है जीवन की उच्चता, उत्तमता, भव्यता, रम्यता और आर्य की आर्यता।

रामायण के प्रसंगों में से ये दो श्लोक शायद उत्तम से उत्तम भावों को व्यक्त करनेवाले श्लोकों में भी आगे होंगे। साधक को जीवन को कितनी उच्च कक्षा पर ले जाना है, उसका निर्देश इसमें आ जाता है। इसी कारण से मुझे ये दो श्लोक और ये प्रसंग बहुत स्पर्श करते हैं। वनवास जाते वक्त भी कैकेयीमाँ के चरणस्पर्श करना और वनवास में से आकर प्रथम उनके ही चरणस्पर्श करना यह दो प्रसंग दुनिया को दी गई श्री वाल्मिकी की अनमोल और भव्य भेंट है।



## ४. महत्त्व कितना और कब ?

आज से लगभग २० वर्ष पहले की बात है। नडियाद आश्रम के साथ भावात्मक संबंध से जुड़ी हुई एक प्रतिष्ठित सम्माननीय व्यक्ति आफ्रिका जाकर वापस आये। वे आर्थिक रूप से बहुत सुखी। फिर भावुक भी जरूर। पूज्य श्रीमोटा के लिए भक्ति भी थी। पूज्य श्रीमोटा जब-जब आश्रम में से बाहर गये हो, तब उनका वाहन (मोटरकार) आश्रम से स्टेशन और स्टेशन से आश्रम ले जाने के लिए आ जाता है। इसके अतिरिक्त आसपास के गाँवों में जाना हो, तब भी वे वाहन की सेवा देते हैं।

वे अपनी पत्नी के साथ दो महीने के लिए आफ्रिका घूमने गये थे। आफ्रिका से वापस आते समय आफ्रिका में रहते और व्यापार करते उनके पुत्र और पुत्रवधू और दूसरे भी साथ में देश आये थे। मुंबई से नडियाद वे अपने वाहन में आये थे। रात को दो बजे उन्होंने नडियाद शहर में प्रवेश किया। आश्रम में सायं छ बजे के बाद आने की मनाई की हकीकत वे जानते थे, किन्तु उन्होंने विवेक का उपयोग किया। बुद्धि और भक्ति का उपयोग किया। जड़ शब्दों से ही जुड़े हुए न रहे। नडियाद में उन दिनों में कातिल टंड की लहर चल रही थी। उसमें भी रात्रि की अंतिम घड़ियों में तो टंड कुछ ओर ही थी। मुंबई से नडियाद तक का मोटरमार्ग से आज से २० वर्ष पहले की सड़क पर कितनी थकान लगती थी, वह तो कोई अनुभव करनेवाला ही कह सकता है। इससे वे थके हुए हो, वह बिलकुल स्वाभाविक था। फिर भी दो बजे रात को आश्रम पर आये। शहर में प्रवेश करने के बाद अपना घर पार करके, बाजार पार करके और उसके बाद तीन मील दूर आश्रम पर आये। कार की आवाज सुनते ही मैं बाहर सोया होने के कारण जाग गया और दरवाजे पर गया तो उनको देखा। मैंने दरवाजा खोला, किन्तु वे सब अंदर नहीं आये। आफ्रिका से पूज्यश्री के लिए बहुत सारे लाये हुए उपहार की वस्तुएँ मुझे देकर और आश्रम को प्रणाम करके मुझे कहा, “अब हम जायेंगे।”

वे सब अत्यंत भक्तिभाव से असुविधा उठाकर रात्रि को चाहकर खास आये इससे मैंने कहा, “पूज्य तो बहुत करके जाग रहे होंगे, उनको मैं उठाता हूँ। आप अंदर पधारिये,” किन्तु वे तो नम्रतापूर्वक बोले, “नहीं! नहीं! आपश्री को तकलीफ देने नहीं आये हैं। घर में प्रवेश करने से पहले पूज्य के आश्रम के दर्शन करके फिर घर में जाना ऐसे आशय से ही इतनी



रात को हम सब आये हैं। पूज्यश्री को तकलीफ नहीं देना है। अब मैं सुबह पूज्यश्री के चरणस्पर्श करने आऊँगा।” ऐसा कहकर सब गये।

यह हकीकत हृदय को स्पर्श कर जाय वैसी है। उनके ऐसे भाव से मुझे तो उस समय और बाद में बहुत समय तक भावोर्मि का उद्रेक रहा था। कैसी भक्ति, समज और सूक्ष्म विवेक !!!

जीवन में और जगत में महत्त्व किसे, कितना दिया जाता है, उस पर भी हमारे विकास का आधार रहता है। इसी घटना को लेवें तो वह भाई उजागरा से परेशान हुए थे। इसमें पहले अपने घर जाकर, सोकर, आराम करके फुर्सत में पूज्यश्री को मिलने और चरणस्पर्श करने आये होते वह उत्तम या सीधे आश्रम पर देर रात को भी ठंड में आकर, आश्रम के दर्शन करके पूज्यश्री को तकलीफ न देकर घर गये वह उत्तम? अपने ही जीवन पर किस प्रसंग की ज्यादा असर होती है और सामनेवाले का भाव भी कैसा और कितना, किस प्रकार की घटना से उत्पन्न होता है, वह हमें सोचना चाहिए।

कार्य एक ही हो। एक ही प्रकार से करने के होते हैं। फिर भी उसमें महत्त्व किसे मिलता है, उसके ऊपर आधार रहता है। मिलने का तो आराम से बाद में भी कर सकते हैं और पहले भी कर सकते हैं। यह दो कार्य एक ही है, फिर भी “तुरंत” और “बाद में” उसमें फर्क हो जाता है। **जो कार्य जिस वक्त तुरंत करने का हो, वह करें उसकी असर अलग और आराम से अपनी सुविधा से हो, वह बात अलग।**

मेहमान आये हों उन्हें भोजन तो करवाना होगा ही। उनको भोजन के समय भोजन करावे उसकी एक प्रकार की असर और हमारी सुविधा से और आराम से भोजन करावे उसकी असर अलग ही होती है। उसमें कोई संशय नहीं है।

हमने एक भोजन समारंभ का आयोजन किया है। अलग-अलग संबंधवाले कइओं को आमंत्रित किया है। यह संबंध विविध प्रकार के हैं। सगे-संबंधी, स्वजनों के, व्यापारी-पडोशिओं के, मित्र, बुजुर्गों के और सामाजिक इत्यादि विविध संबंध हैं। अब इन सब में महत्त्व के स्थान पर किसे बिठाते हैं, उस पर से हमारे जीवन में किस अभिगम को कितना महत्त्व हम देते हैं, वह नापा जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु हमारे जीवन की परंपरा में वह दृढ़ होता है। भोजन करवाने का कार्य तो एक ही प्रकार का है। कहीं भी बिठाकर भोजन करवा सकते हैं। किन्तु नहीं! यदि हमारा आंतरनिरीक्षण यथार्थ हो तो किसे, कितना महत्त्व हमारा मन-हृदय देता है,





उसका मूल्यांकन ऐसे समय हमारे उस समय के उत्पन्न होनेवाले अभिगम से समझा जा सकता है।

जीवन में हरएक व्यक्ति कुछ किसी को तो महत्त्व देता ही है। एक-दूसरे की स्पर्धा स्वीकार करके वैसे आचरण करना पड़ता है। हम किसी एक मेहमान के साथ बात कर रहे हों और दूसरे उससे ज्यादा महत्त्व के मेहमान आने पर हम दूसरे का तुरंत सत्कार करते ही हैं।

यह लिखते हुए एक घटना याद आ रही है। सहज थोड़े से विवेक से और दूरदर्शितापूर्ण सूझ से परिस्थिति में जबरदस्त बदलाव ला सकते हैं, उसका अनुभव किया हुआ एक अद्भुत किस्सा यहाँ लिखना उचित होगा।

यह उस जमाने की बात है, जब एटलांटिक महासागर को पार करके कोई प्लेन निकल नहीं सका था। युरोप और अमेरिका के बीच कोई भी प्लेन ने तब सफर नहीं की थी। १९२८ का वह समय। एटलांटिक महासागर को प्लेन द्वारा पार करने के प्रयास चल रहे थे। उस जमाने में प्लेन बाबत में फ्रांस की अन्य देशों से स्पर्धा थी। फ्रांस सरकार की सहायता से फ्रांस के दो महारथी वैज्ञानिक और पायलट स्पेशियल प्लेन तैयार कर रहे थे। मौसम विभाग की सहायता और आश्रय के साथ सरकार की सभी प्रकार की सहायता और आश्रय के साथ दो अनुभवी परिपक्व पायलट पेरिस से न्यूयॉर्क में एकसाथ २८०० मील की उड़ान के लिए निकले। यह पहली उड़ान थी। इसके पहले किसी ने ऐसा साहस नहीं किया था। आज तो असंख्य प्लेन हररोज हजारों मील की उड़ान करते हैं। जेट प्लेन का युग आ गया है। चंद्र पर मनुष्य पहुँच गया है। इससे १९२८ के एटलांटिक महासागर के इस पहली उड़ान के वक्त लोगों को हुए आश्चर्य और उत्साह की कल्पना हम योग्य नहीं कर सकेंगे, किन्तु तब १९२८ में तो इन पायलटों के पराक्रमी प्रयास को सभी देशों के समाचारपत्रों में पहले पन्ने पर महत्त्व का स्थान मिला था। फ्रांस में तो जैसे पूरे देश का उत्सव हो ऐसा वातावरण था। पेरिस में एक राष्ट्रीय त्यौहार हो ऐसा लगता था। उस वक्त मैं पेरिस में था। इससे यह वातावरण मैंने स्वयं अनुभव किया है। ये दो पाइलट गये। फिर डेढ़-दो दिन तक उनके कोई समाचार नहीं मिले। चार दिन बीत गये, सात दिन बीत गये, कोई समाचार नहीं। पूरा देश दिलगीरी में-शोक में डूब गया। इस शोक की गहरी छाया का ख्याल तो उस समय वहाँ हाजिर हो, उसे ही ठीक आ सकता है। देश के प्रमुख के या राजा के मृत्यु से भी ज्यादा शोकमग्न वातावरण पूरे देश में फैल गया।

ऐसे सजोगों में एक दूसरी घटना भी हुई। उस घटना की पृष्ठभूमिका में ऊपर की फ्रांस की घटना से संपूर्ण विरोधाभास प्रचलित होता था।







हवामानशास्त्र के अनुसार पेरिस से न्युयॉर्क की ओर जाने के बदले न्युयॉर्क से पेरिस आने में विशेष मुश्किल और जोखिम माना जाता था। फिर भी न्युयॉर्क से एक १९ वर्ष का लड़का कि जिसने सिर्फ तीन साल ही हवाई विभाग में वह भी सिर्फ डाक के थैले कम अंतर के प्लेन में ले जाने का कार्य किया था, उसके एटलांटिक महासागर को पार करने के साहस को देश की सरकार की, समाचारपत्रवालों की, कोई बड़ी संस्थाओं की सहायता नहीं थी, सिर्फ एक व्यापारी ने छोटा सा एरोप्लेन बनाने में आर्थिक सहायता दी थी। सर्दी की भयंकर ठंडी में वह अकेला ही छोटे खिलौने जैसे मोनोप्लेन में न्युयॉर्क से निकला। समाचारपत्रों में समाचार छपे।

स्वयं अमेरिका की जनता के मन में ऐसा संदेह था कि जहाँ दो-दो परिपक्व—अनुभवी महारथी पायलटों राज्य की संपूर्ण सहायता से तैयार हुए और सभी सामग्री से सुसज्ज बड़े प्लेन में और वह भी अनुकूल मौसम के समय पर पूर्व से पश्चिम जाने में निष्फल हुए, वहाँ इतना एक छोटा लड़का मोनोप्लेन में ! अकेला ! किस प्रकार पश्चिम में से पूर्व में प्रतिकूल मौसम में सुरक्षित पहुँच सकेगा ! किन्तु कुदरत की इच्छा कुछ अलग ही थी। प्रभु की इच्छा कि ठीक ३३ घंटे में २८०० मील का यह अखंड अधबीच किसी भी प्रकार के उतार बिना का प्रवास सफलतापूर्वक कर सका। उसका नाम था लिन्डबर्ग। लिन्डबर्ग सीधा फ्रॉट से तीर के समान पेरिस के एरोड्रम पर आ पहुँचा। अकेला तनहा स्टियरिंग व्हील पर सतत बैठ रहकर— नहीं पिशाब, नहीं शौच, नहीं रेडियो जैसे साधन, पास में कुछ भी नहीं, एक मात्र छोटा सा मोनोप्लेन ! उसे अनुभव भी ज्यादा नहीं। फिर भी जहाँ दो-दो महारथी निष्फल गये और उन्होंने अपने जान भी गँवाई, उसी साहस में यह नवयुवान सफल हुआ।

पेरिस में सनसनीभरे समाचार फैल गये कि अमेरिका का छोटा सा युवान लिन्डबर्ग सुरक्षित रूप से एटलांटिक पार करके आ रहा है। फ्रांस में उस वक्त अपने ही दो पायलटों को गँवाने के कारण शोक का वातावरण था। उन परिपक्व पायलटों को गँवाने के पाँच-सात दिन ही हुए थे। निष्फलता का डंक समग्र प्रजा को सता रहा था। उन्होंने अपने पायलटों के गँवाने को National Calamity राष्ट्रीय आपदा मानी थी। ऐसे समय पर एक अमेरिकन ने ऐसा उड़ान का कार्यक्रम आयोजित किया, वही एक प्रकार से योग्य नहीं था। फिर, उसमें उसे पेरिस में ही आने का हुआ। यह बात फ्रेंचों को अपने देश का नाक कटने के समान लगी। पूरे पेरिस शहर में तनावपूर्ण वातावरण फैला हुआ था। फ्रेंच प्रजा गुस्से में थी। जहाँ-तहाँ





पेरिस में इसी बात की चर्चा हो रही थी। सही अर्थ में तो फ्रांस के समाचारपत्रों ने लिन्डबर्ग को इस साहस के लिए सत्कार करना चाहिए था, उसके बदले शाम की आवृत्तियों के समाचारपत्रों में ऐसे गलत समय पर उड़कर आने के लिए लिन्डबर्ग पर रोष उतारा था। वहाँ तो रात को अंदाजन् १०-११ बजे समाचार फैल गये कि ३३ घंटे की उड़ान के बाद लिन्डबर्ग सुरक्षित रूप से अकेला उड़कर एरोड्रम पर उतर रहा है। लोग बहुत अकूलाये, गुस्सा हुए। स्पोटर्समेनशीप का बिलकुल अभाव दिखने लगा, जैसे कि अमेरिका ने फ्रांस पर कब्जा कर लिया हो, इतना सारा विषाद सब जगह छा गया था।

इस वातावरण में एक व्यक्ति की सूझ ने बड़ा पलटा ला दिया। वह व्यक्ति था फ्रांस में अमेरिका का राजदूत। वे बुद्धिमान व दूरदर्शी और व्यवहारु थे। फ्रांस के लोगों के विरोध और रोष को उन्होंने बराबर पहचाने थे। वे स्वयं वैसे भी अमेरिका के राजदूत के रूप में एरोड्रम पर उपस्थित तो रहनेवाले थे। इसलिए वे वहाँ गये, किन्तु उन्होंने एक अनोखी चातुरी दिखाई। जैसे लिन्डबर्ग उतरा कि तुरंत उसे अपनी कार में बिठाकर सीधे जो दो फ्रेंच महारथी पायलटों का निधन हुआ था, उनके घर उसे ले जाने में आया। एक के घर पर विधवा पत्नी थी और दूसरे के घर पर विधवा माता थी। इन दोनों के घर सामान्य साधारण गरीब महोल्ले में थे। इस प्रकार, बिलकुल अचानक, अनचीता अमेरिका के राजदूत और विजेता लिन्डबर्ग इन दो शोकाकुल कुटुंब की मुलाकात को गए और उनके शोक में हिस्सा लिया।

यह समाचार थोड़ी ही देर में समग्र पेरिस में और उसके बाद समग्र देश में (फ्रांस में) फैल गये। इस घटना ने पूरे देश की हवा को अचानक पलट दिया। अगले दिन एरोड्रम पर फ्रेंच लोग बड़ी संख्या में एकत्रित नहीं हुए थे और नहीं जैसा मान दिया था, उस जनता ने दूसरे दिन अमेरिकन राजदूत के कार्यालय पर बड़ी भीड़ इकट्ठी कर दी। झुंड के झुंड आये और लिन्डबर्ग को अनेक बार झरोखे में दर्शन देने आना पड़ा। एक ही रात में लिन्डबर्ग फ्रेंच जनता का अति प्रिय लाइला Hero (नायक) बन चूका था। वह जीवनमरण को हथेली में लेकर मानसिक रूप से अत्यंत तनावपूर्ण और उत्तेजनावाली स्थिति में और शारीरिक रूप से भूखा, प्यासा, थका हुआ उजागरावाला एक ही स्थल पर बैठा हुआ, प्लेन में से बाहर आया, तब पहले आराम और सोने के लिए वह नहीं गया, किन्तु पहले शोकातुर विधवा पत्नी को, विधवा माँ को मिलने गया। उसके बाद ही अपने रहने के





स्थान पर गया। ऐरोड्रम पर से सीधा उनके घर आश्वासन देने जाने की यह छोटी सी (!) हकीकत ने, दूरदर्शीता ने, समझ ने, सहानुभूति ने फ्रेंच प्रजा में जो कडुआहट फैली थी, वह मिटाकर दोनों प्रजा को करीब ला दिया। यह चातुरी और बुद्धि लिन्डबर्ग की हो या अमेरिकन राजदूत की हो, जिसकी हो उसकी, किन्तु परिणाम शुभ आया। यही आश्वासन देने जाने का निर्णय— सहानुभूति व्यक्त करने का निर्णय— दूसरी सुबह नींद लेने के बाद, भोजन बाद, थकान उतारने के बाद लिया गया होता तो कभी भी फ्रेंच प्रजा के मनोभाव में ऐसा सुखद परिवर्तन नहीं आ सकता था। इसलिए महत्त्व किसे, कितना दिया जाता है, उसके पर सब आधार रहता है।



## ५. मौनार्थी डॉ. जगन्नाथ पटेल की विस्मयकारी घटना

अहमदाबाद के एक प्रसिद्ध आँख के निष्णात डॉक्टर सुरत आश्रम में मौन में बैठे। ई.स. १९६१ का वर्ष था। उस वक्त उनकी उम्र सिर्फ ४९ वर्ष की थी। उन्हें मौन में जिस अनुभव में से गुजरना पड़ा, वह जानें उसके पहले उनके जीवन की पूर्वभूमिका भी जानने जैसी है।

उनका पहनावा बिलकुल सादा और वह भी खादी का। राष्ट्रीय विचारधारा के चाहक भी सही। जरूर अत्यंत साहसिक और वीर व्यक्ति भी थे। दूसरे विश्वयुद्ध के समय में उन्होंने मिलिटरी में चिकित्सा सेवा दी थी और इस कारण देश-विदेश में घूमे भी थे। पूर्व के और पश्चिम के कई देशों की मुलाकात उन्होंने ली थी। युद्ध दरमियान जापानियों के हाथ में पकड़े भी गये थे। अनेक मुसीबतें और यातना सहन करके जापानियों के हाथ में से छटके भी। पैदल चलते हुए बर्मा द्वारा हिंद में प्रवेश कर सके थे। सेवावृत्ति भी प्रबल थी। जनहितार्थ परोपकारी कार्य भी करते थे।

उनके एक डॉक्टरमित्र द्वारा आश्रम के संपर्क में आये। सूरत आश्रम में सात दिन तक मौन में बैठने का तय करके बैठे। सूरत के डॉक्टरमित्र आश्रम में छोड़ने आये थे। पहले चार दिन की मौन की अवधि तो उन्होंने सुखरूप आसानी से गुजार दी, किन्तु बाद के तीन दिनों दरमियान भोजन भी नहीं किया। अंतिम दो दिन तो आधे भूखे रहे। सिर्फ चाय ही लेवे। आम की दो तीन फांक लेवे। आरंभ के दिनों में तो वे जो जप करते, वह बाहर से अच्छे प्रकार से सुने जा सकते थे, किन्तु अंतिम तीन दिन तो जप सुनाई नहीं दे रहे थे। देह की सुध खोने लगे थे ऐसा कहे तो भी चल सकता है। ध्यान में जैसे रहा करते हो ऐसा लगता था। खिड़की में से भोजन का थाल रखने में आता और जोर से बूम मारकर कहने में आता, “प्रभु प्रसाद रखा है, प्रेम से आरोगना” फिर भी वह भोजन लिया नहीं। अंदर से खिड़की खोली ही नहीं। कपड़े जो साधक को बाहर धोने के लिए खिड़की में रख देने का रिवाज है, उसके अनुसार कपड़े भी बाहर नहीं रखते थे। इस प्रकार सब अंतिम तीन दिनों के लिए छिनभिन्न होता रहा।

उनके मौन सप्ताह की पूर्णहूति का दिन आ पहुँचा। उन्हें बाहर आने के लिए मौनमंदिर को खोला, किन्तु वे बाहर आवे ही नहीं। उनके सूरत के डॉक्टरमित्र समझाने के लिए अंदर गये तो उनका हाथ पकड़कर मारने की धमकी दी। हाथ उठाया भी, किन्तु साथ में दूसरे भाई भी थे, उन्होंने बात को



चातुरी से घूमा दी। जैसे-तैसे करके समझाकर बाहर निकाले। उस वक्त बारिश भी हो रही थी। उन्होंने शरीर पर सिर्फ एक धोती लपेटी हुई थी। खुले शरीर से बाहर चबूतरे पर पूज्य श्रीमोटा की बैठक थी, वहाँ टेक कर ध्यानस्थ दशा में बैठ गये। सामान्य रीति से मौन में से निकलनेवाले व्यक्ति श्रद्धा से पूज्य श्रीमोटा के चरणस्पर्श करने जाते हैं। उन्होंने तो वह चेष्टा भी नहीं की। पूज्यश्री को मिलने भी नहीं गए। मौन की पूर्णाहुति के निमित्त से और नये बैठनेवालों के मौन प्रारंभ के वक्त सूरत आश्रम में बरामदे में बैठकर सब प्रार्थना के लिये इकट्ठे होते हैं। वहाँ भी किसी से वे मिलने नहीं गये। जब ध्यानस्थ होकर बैठे, तब उनको मैंने कंधे से हिलाया, बुलाया और उठाने का प्रयास किया, किन्तु आँखे खोले वह दूसरे। खिसके ही नहीं। बरामदे में सभी ने प्रार्थना शुरू की। प्रार्थना के अंत में जब सब बाहर आये, तब देखा तो डॉक्टर नहीं मिले। हमें ऐसा लगा की मौन का रंग लगा हो ऐसा दिखता है। इससे भावावेश होगा तो चाहे बाहर बैठे हो। ऐसे चले जायेंगे ऐसा ख्याल नहीं था।

डॉक्टर नहीं है, ऐसी खबर मिलते ही आसपास तलाश करना आरंभ कर दिया। सूरत आश्रम से तीन तरफ रास्ते जाते हैं। एक वारियाव की ओर, दूसरा ओलपाड की ओर और तीसरा रांदेर-सुरत की ओर। आश्रम पर सुबह आनेवालों में से कई कार लेकर आये थे। इन तीनों रास्ते पर अतिथियों की कारें दौड़ने लगी। अब बाकी रही हुई दिशा नदी के ओर की थी। उस ओर देखा। पास के श्मशान के घाट पर भी घूम लिए, किन्तु कहीं डॉक्टर दिखे नहीं। पलभर मन में विचार चमक गया कि नदी में तो नहीं कूद गये होंगे। शायद ऐसा न हुआ हो कि भावावेश में रामतीर्थ ने नदी में समाधि ली थी, वह बात उन्हें याद आ गई हो और वैसे विचार के आधार पर नदी में कूद पड़े हो! यह विचार आते ही उनके कदम किस दिशा में गये हैं, वह शुरू किया। सद्भाग्य से उस वक्त आश्रम में पदचिह्न पहचाननेवाले एक भाई उपस्थित थे। उन्होंने पैर के निशान ढूँढे और नदी के तट तक ले गये। तापीमाता में पानी तो बहुत था। व्यक्ति सहजता से डूब जाय उतना कीचड़ भी था। किनारे पर डॉक्टर के पड़े हुए पैरों के निशान से इतना तो तय करने में आया कि नदी में कूद गये हैं। इससे कस्टमवाले, नाववाले, लोंचवाले इत्यादि को समाचार देना या नहीं उसकी चर्चा-विचारणा हुई। पूज्य श्रीमोटा ने बताया, “यदि डॉक्टर को तैरना आता होगा तो चाहे अभी उनके मन पर पागलपन सवार हो तो भी उनका अज्ञात मन (Subconscious Mind) जिजीविषा की प्रबल आकांक्षा के कारण डॉक्टर





के पास तैरने की कला का उपयोग तो करायेगा।”

उन्हें लेने आनेवाले डॉक्टरमित्र ने कहा कि मौन में बैठनेवाले डॉक्टर को इससे पहले तोड़फोड़ करनेवाले आवेगवाले पागलपन के दो-तीन दौर आये थें। उन्हें कभी-कभी ऐसा पागलपन का दौरा आता था। इस हकीकत के स्फोट से एक बात तय हो गई कि उनका यह भावावेश नहीं था, किन्तु सचमुच तो पागलपन ने उनके मन का कब्जा ले लिया था। संभव है कि शुरूआत में भावावेश प्रकट हुआ हो और मन एकाग्रता में आना शुरू हुआ हो और उसी वक्त पागलपन ने मन का पूरा कब्जा ले लिया हो। संभावना है कि आरंभ में भावावेश प्रकट हुआ हो और उस वक्त ऐसा हुआ हो। इससे इसी कारण से ही यह परिस्थिति पैदा हुई हो ऐसा कह सकते हैं।

जिसका मन पीड़ा से भीगा हुआ हो, पहले पागलपन आ चुका हो वैसी व्यक्ति का भावावेश शुरूआत में चाहे वास्तविक भी हो फिर भी उसका कब्जा पागलपन कैसी सख्ती से ले सकता है उसका ये डॉक्टर साहब उदाहरण है।

डॉक्टर तैरना जानते हैं या नहीं उसका हमें किसी को पता नहीं था। उनके डॉक्टरमित्र तो कार लेकर उनकी तलाश में निकल पड़े थे। “मिलिटरी में कई वर्ष बिताये होने से शायद तैरना आता हो।” ऐसा पूज्य श्रीमोटा ने कहा। ऐसे, बातें अत्यंत दुःखी हृदय से हो रही थी, वहाँ तो आवाज आई कि, “डॉक्टर मिल गये और आ रहे हैं।” पूज्य श्रीमोटा नदी किनारे पर ही बैठे हुए थे। उन्हें जानकारी देकर हम सब आश्रम के दरवाजे की ओर डॉक्टर के पास जाने के लिए मुड़े।

हमने देखा तो डॉक्टर साहब नग्नावस्था में “समाधिस्थ” दशा में बैठे थे। पास में दो भाई थे। आगे तीन भाई थे। हमने पहले तो डॉक्टर को उन्हें सूरत से लेने आये हुए डॉक्टरमित्र के वहाँ भोजना का सोचा। फिर सचमुच क्या हुआ था, वह जानने का प्रयास किया। अर्थात् कि डॉक्टर कहाँ से और किस प्रकार मिले। डॉक्टर को कार में लेकर आनेवाले भाईओं में से एक भाई रांदेर के उस डॉक्टर के साथ सूरत न जाते हुए आश्रम पर उतर गये। उन्होंने घटी हुई घटना का वर्णन किया जो निम्न अनुसार है।

आश्रम से डेढ़ मील दूर रांदेर नाम का छोटा गाँव है। वहाँ नाविकों की बस्ती ज्यादा है। फिर, उस दिन हरदिन के अनुसार गाँव के उन नाविकों के बच्चे भी नदी में नहाने के लिए गये थे। कई नाविक मछलियाँ भी पकड़ रहे थे। उन्होंने “खाटली तारा” में किसी मनुष्य को खींचे जाते





देखा, उसे धक्का मारकर रस्सी डालकर किनारे पर खींचकर ले आये।

किनारे पर आते ही और बाहर निकालने के साथ ही डॉक्टर ने तो नदी में फिर से कूद पड़ने के लिए अधीरता बताई, किन्तु नाविकों के पास कुछ चला नहीं। उसके बाद उन्होंने धोती निकाल डाली और नग्नावस्था में एक मंदिर के चबूतरे पर जाकर आँखें बंदकर ध्यान की दशा में हो जैसे बैठ गये। उन्होंने जो शरारत और अधीरता बताई थी, इससे उनके कंधे पर और पैर पर थोड़े-थोड़े खरोंच हो गये थे। फिर भी वे थोड़ा भी पानी नहीं पी गये थे। उनके डॉक्टरमित्र के पास से बाद में मालूम हुआ कि उन्हें तैरना आता था। \* इससे पूज्य श्रीमोटा के कहे अनुसार अनुमान ऐसा किया कि जैसे वे नदी में कूद पड़े होंगे कि तुरंत ही अज्ञात मन (Subconscious Mind) ने सचेत होकर उनके पास तैरने की क्रिया का आरंभ करवा दिया होगा। बाद में थक जाने पर “खाटली तारा” में घसीड़ते घसीड़ते प्रवाह में बहते खींचे गये होंगे। इससे पानी नहीं पी गये होंगे।

मंदिर के चबूतरे पर डॉक्टर पंद्रह मिनट बैठे होंगे और सूरत आश्रम के व्यवस्थापक श्री भीखुभाई जो डॉक्टर की तलाश में निकले थे और रांदेर से मछली बेचनेवालों को बोट और जाल लेकर बुलाने गये थे, वे आ पहुँचे। वे डॉक्टर के पास मंदिर के चबूतरे पर गये। डॉक्टर को कार में बैठने कि विनती की, किन्तु माने ही नहीं। अंदर प्रवेश ही न करे। बहुत मुश्किल से समझाकर जैसे-तैसे लगभग घसीड़ते हुए कार की पीछली सीट पर बैठाये। इस प्रकार बिठाये तो सही, किन्तु फिर वे दूसरे किसी को अपने साथ में बैठने भी न दे। दरवाजे पर हाथ रखकर पाँव बाहर लटकाकर रौद्र स्वरूप धारण करके सबको डराते थे। बहुत मेहनत से दो भाई उनके साथ बैठ गये और कार आश्रम की ओर रवाना हुई। तब डॉक्टर आगे की सीट पर लात लगाने लगे और काँच पर मुट्ठी से मारने लगे। इस प्रकार तूफान मचा रखा था।

दो दिन मौन के अंदर भूखे रहे होते हुए भी और डेढ़ मील तैरकर और खींचकर आये होने पर भी जोर बहुत था। वह जोर था पागलपन का।

जैसे-तैसे करके कार आश्रम के कम्पाउन्ड में आई और कार मालिक ने आराम की साँस ली। उतने में डॉक्टरमित्र जो अपनी कार लेकर तलाश में निकले थे, न मिलने पर निराश होकर वापस आये। और दोनों कार डॉक्टरमित्र के घर सूरत तरफ रवाना हुई। वहाँ डॉक्टरमित्र के वहाँ भी इस भाई ने तूफान मचा दिया। पहले तो कार में से उतरने का ही इनकार किया। नग्न शरीर को ढाँकने के लिए-पहनने के लिए धोती दी तो वह भी



\* बाद में स्वयं डॉक्टरसाहब के बताये अनुसार यह हकीकत गलत साबित हुई थी।



फेंक दिया। आखिर में उन सबने मिलकर तय किया कि उठाकर घर में डालना चाहिए। इतने में वे मान गये। उन्होंने धोती जैसे-तैसे लपेट ली। घर में दाखिल करवाकर उन्हें कुर्सी पर बिठाया। कुछ देर शांत रहकर उन्होंने फिर तूफान शुरू किया। पास में बैठे हुए एक भाई को चार-पाँच तमाचे मार दिए। डॉक्टरमित्र के घर का रेडियो केस के साथ उठाकर फेंका और पटक दिया। काँच की बोटलें तोड़फोड़ डाली, पास में बैठे हुए भाई का हाथ पकड़कर घर के बाहर धक्का मार दिया और दरवाजा बंद कर दिया। उस प्रकार वे तो तुफान करने लगे। फिर कुछ देर बाद घर बाहर निकलकर धोती निकालकर भागने का प्रयास किया। आँगन की सीढ़ियाँ उतरकर रास्ते पर लगभग आ पहुँचे।

लोग तो तमाशा देखने के लिए इकट्ठे होने लगे। सार्वजनिक रास्ते पर डॉक्टरमित्र का मकान। फिर, समझाये और कुछ भोजन करवाया। डेढ़ बजे की फास्ट में अहमदाबाद उनके घर ले जाने का तय किया। उनकी पत्नी को टेलिग्राम भी किया। अहमदाबाद के उनके साथी डॉक्टर को भी समाचार भेजे कि फास्ट पर स्टेशन पर आना।

एक बजे—सूरत स्टेशन पर डॉक्टर को लेकर उनके सूरत के डॉक्टरमित्र और दूसरे एक भाई आये। डॉक्टर ने तो यहाँ भी तूफान करना प्रारंभ किया। डॉक्टरमित्र को एक ही डर रहा करता था : “डिब्बे में तूफान करे तो ?” इससे उन्होंने एक साथीमित्र को अहमदाबाद तक साथ रखा था। वे तीनों फर्स्ट क्लास की टिकट लेकर स्टेशन पर हमारे आने का इंतजार कर रहे थे। उन लोगों को पता था कि पूज्य श्रीमोटा और हम सब उसी ट्रेन में नडियाद जानेवाले थे। और इसीलिए उन्होंने यह ट्रेन पसंद की, जिसमें पूज्य श्रीमोटा का साथ नडियाद तक तो मिलता रहे। वे हमारे डिब्बे में आये। दो सोने की सीट यानी कुछ छ जनों की सीट। हम सात लोग थे। सामान भी ठीक-ठीक था। कंपार्टमेंट संकरा और सीधा था। सीट भी आमनेसामने पास-पास थी। डॉक्टरमित्र ने मौनार्थी डॉक्टर को पूज्य श्रीमोटा के पास में बिठाया। हम डिब्बे में पहले चढ़ गये थे। वे लोग पीछे-पीछे आकर हमारे डिब्बे में चढ़े। सुबह के मौन में से निकलने के बाद पहली बार ही पूज्य श्रीमोटा को मिलने का डॉक्टर को यहाँ हुआ। पूज्य श्रीमोटा के देखते ही डॉक्टर ने उनको आलिंगन किया। पूज्यश्री ने भी उनको गोद में लेकर आलिंगन किया, चुंबन किया, पीठ थपथपाई और अपने पास बिठाया। डॉक्टर पलभर में हँसे, पलभर में गंभीर होकर ध्यानस्थ हो जाय वैसे बैठे रहे। पूज्य श्रीमोटा की उपस्थिति और स्पर्श से







डॉक्टर अंत तक शांत रहे। उस बारे में बाद में डॉक्टरमित्र ने पूज्यश्री को लिखे हुए पत्र में से थोड़ा हिस्सा यहाँ लिखना उचित होगा।

पूज्य श्रीमोटा,

आपके यहाँ से, आश्रम से निकलने के बाद घर गये बाद भी....

भाई ने ठीक-ठीक तूफान किया। रेडियो उठाकर पटका, काँच के बरतन तोड़ दिये इत्यादि।

स्टेशन पर डिब्बे में प्रवेश करने से पहले भी तूफान किया था। इसीलिए हम आपके डिब्बे में आये और आपका आराम हराम कर दिया और बैठने की भी तंगी हुई। हमने आश्चर्य के साथ देखा कि आपका स्पर्श उन्हें होते ही उनका तूफान अदृश्य हो गया। और बहुत शांति से बैठे रहे। आपके स्पर्श की जादूई असर का अनुभव हुआ। नडियाद स्टेशन पर आपके उतर जाने के बाद भी वे अहमदाबाद तक शांत ही रहे थे। फिर बाद में कोई तकलीफ नहीं हुई। उनके सहकार्यकर डॉक्टरमित्र हरिद्वार नहीं गये थे, इससे वे भी स्टेशन पर लेने के लिए उपस्थित थे।

**अत्यंत आश्चर्य की बात यह भी हुई कि रेडियो न तो बिगड़ा, न तो उसका काँच टूटा था। उठाकर जोर से दूर फेंकने पर भी। अभी रेडियो बज रहा है।**

दः डो.....

इस पर से स्पष्ट होता है कि सूरत स्टेशन के प्लेटफोर्म पर आखिर तक डॉक्टर ने तूफान किया था, किन्तु पूज्य श्रीमोटा का स्पर्श प्राप्त होते ही शांत हो गये थे और सुरक्षित घर पहुँच गये थे।

डॉक्टरमित्र ने यदि पहले से ही इस डॉक्टर की मानसिक स्थिति का ख्याल पूज्यश्री को दिया होता तो परिणाम ऐसा कठिन और चिंतित करनेवाला न होता ऐसा मानने के लिए पूरा मजबूत कारण है। मानसिक रीति से, दो बार पागल हो चुके ऐसे एक बहन सूरत आश्रम में सात दिन के लिए मौन में बैठे थे। अभी आज भी उनके चेहरे को देखने पर और उनकी वाणी सुनने पर उनकी मानसिक अवस्थता के चिह्न दिखते हैं। अलबत्ता, इस बारे में जानकारी उनके पति ने पूज्यश्री को पहले से कर दी थी। फिर भी उन्हें मौन में बिठाने का साहस पूज्य श्रीमोटा ने किया था। उन्होंने सात दिन मौन में आनंद से गुजारे थे। उस प्रकार वे सही-सलामत बाहर आये थे। अभी भी ज्यादा दिन मौन में बैठने की इच्छा व्यक्त करते हैं।

इससे यदि डॉक्टर के बारे में भी पूज्य श्रीमोटा को पहले जानकारी दी होती तो उनके पागलपन के सामने सूक्ष्मरूप से उन्होंने कड़ी निगरानी





रखी होती। ऐसा दिल हिलानेवाला प्रसंग ही खड़ा न होता। **किसी को ऐसा विचार भी आ सकता है कि पूज्यश्री आत्मसाक्षात्कारी हैं तो उन्हें जानकारी दिये बिना क्यों उन्होंने जान न लिया ? इस प्रश्न में रही हुई शंका का निवारण यह है कि ऐसी आत्माएँ ऐसा जानने का प्रयास कभी नहीं करती हैं।** वह तो जैसे-जैसे प्रसंग अपनेआप सामने आते जाते हैं वैसे-वैसे ही उस प्रकार बरताव करते हैं, ऐसा अनेक बार मैंने अनुभव किया है, इससे हमारा फर्ज स्वयं उन्हें पहले से ऐसा सब निवेदन कर देने का रहता है—माँग करनी रहती है।

इस घटना का एक दूसरा पक्ष भी विचार करने जैसा है। डॉक्टर-मित्र तो पुलिस को खबर देने के लिए भी तत्पर हो गये थे। पूज्यश्री ने उन्हें रोका और कहा, “पुलिस को तो चौबीस घंटे बाद भी खबर दे सकते हैं। और यदि खबर देनी ही पड़ेगी तो वह फर्ज आश्रम का है, आपका नहीं। मौन में से निकल कर नदी में कूदकर आत्महत्या की है तो आश्रम पुलिस को बतायेगी। इसलिए अभी तुरंत कुछ भी उस बारे में करने की जरूरत नहीं है।

डॉक्टर यदि जिवित न होते और आत्महत्या की होती तो जरूर पुलिस को समाचार देते ही। पुलिस पार्टी आश्रम पर आती। किन संजोगों में डॉक्टर ने आत्महत्या की है उस बारे में पूछताछ करते और सब माहिती प्राप्त करके डॉक्टर इस प्रकार अंधेरे कमरे में इतने दिन बंद रहने से ऐसा हुआ ऐसा निर्णय लेते तो आश्रम की बदनामी होती। इतना ही नहीं, किन्तु आश्रम की ऐसी प्रवृत्ति बंद करवाने के लिए पुलिस सोचती और कदम उठाती ऐसी संभावना भी हो सकने की संपूर्ण संभावना थी। समाचारपत्रों में बदनाम तो होते ही, किन्तु पुलिस समाज के हित में (!) ऐसी प्रवृत्ति जहाँ-जहाँ चल रही होती वहाँ-वहाँ बंद करवाने की कोशिश भी करती।

हम चाहे बहुत ही बुद्धिपूर्वक दलील करें कि आज तक सेंकडों मनुष्य बंद होकर गये हैं और कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ है, किन्तु पुलिस और सरकार तो एक व्यक्ति को भी ऐसा हो सकता है—चाहे उसकी मानसिक स्थिति पहले से पागलपन की थी ऐसा साबित करें, फिर भी—इस हकीकत के आधार पर ऐसी प्रवृत्ति पर निषेध ला सकते थे। उसमें उनका दोष भी नहीं निकाल सकते हैं, क्योंकि जेल में अंधेरे कमरे की सजा भारी में भारी सजा गिनी जाती है। और फिर हमारे अंधेरे कमरों तो जेल के अंधेरे कमरों से भी ज्यादा अंधकारमय हैं।

ई. स. १९४७ में माननीय मुरब्बी श्री अंबुभाई पुराणी पोंडिचेरी से





साबरमती आश्रम पर हमें मिलने आये थे। तब मैं मौन में था। ६३ वा दिन था। यह जानकर उन्होंने कहा कि “ सामान्यरूप से तो ऐसी स्थिति में मनुष्य पागल हो जाय, किन्तु किसी समर्थ का आश्रय होने से ही मौनएकांत में बैठना संभव हो सकता है।”

हमारा यह अनुभव है कि प्रभु ने भक्त की लाज अनेक बार रखी है, वैसे इस बार भी रखी और डोक्टर को बचा लिया। उन्हें नवजीवन प्राप्त हुआ।

डोक्टर के इस प्रसंग से किसी को मौन में बैठने के बारे में बिलकुल घबराने की जरूर नहीं है। किसी को ऐसा अभी तक हुआ नहीं है। बहनें, पुरुष, कुमारिकाएँ, ८-१० वर्ष की लड़कियाँ और किशोर मौन में बैठे हैं। आनंदपूर्वक बाहर आये हैं। वह भी कुछ प्राप्त करके सच्चा जीवनपाथेय प्राप्त करके।

इस मौनएकांत की प्रवृत्ति ने अनेक व्यक्तियों को अनेक प्रकार के लाभ—स्थूल और सूक्ष्म—मिले हो, ऐसे लेखन और निवेदन मौजूद हैं।

उपर्युक्त प्रसंग बाद डोक्टर और उनके पत्नी एकाएक एक दिन शाम को आश्रम पर आ पहुँचे। पूज्य मोटा के चरणस्पर्श किये। पूज्यश्री ने डोक्टर को आलिंगन दिया। दोनों ने अलग-अलग पूज्यश्री को हार पहनाये। इस प्रकार उन्होंने अपना भाव और कृतज्ञता व्यक्त की। मैंने धीरे से उन्हें कहा, “ प्रभु की कृपा मानो कि आपको तैरना आता था।” वे तुरंत बोले, “नहीं, मुझे बिलकुल तैरना नहीं आता। बिलकुल नहीं। मैं कूदने के इरादे से नदी पर नहीं गया था। मैं तो तापीमाता में नाहने के लिए नीचे उतरा था। नदी में प्रवेश करने के बाद नदी में ही किनारे-किनारे आगे बढ़ने की इच्छा होने पर चलने लगा। खड्ढे-टीले आते थे। एक जगह पैर के तलुवे पर पानी ही पानी। जमीन का स्पर्श ही न हुआ। पैर टिके ही नहीं। तब मुझे लगा कि, “अंतिम घड़ी आ गई”। सिर पर से पानी बह जायेगा ऐसा लगा। उस वक्त पानी की लहर की बड़ी तरंग आई और मुझे आगे धकेल दिया। जमीन पर पैर टिक गये भी थे फिर क्या हुआ उसका मुझे ख्याल नहीं है। मैं पानी क्यों नहीं पी गया और डूब क्यों नहीं गया, वही बड़ा आश्चर्य है। बाहर से मुझे कोई भान नहीं था, किन्तु अंदर से मैं सभान (Conscious) था। फिर तो रांदेर के पास मुझे खींच लिया। उसके बाद का आप सब जानते हैं। अहमदाबाद जाने के बाद मैं उछल-उछलकर जोर से हरिःॐ की बूम लगाने लगा। उस नामस्मरण की बूम बिलकुल सभानरूप में लगाता था, किन्तु मेरी पत्नी और कुटुंबीजन ने तो ऐसा ही माना की यह पागलपन की





चीख हैं और पहले के अनुभव से ऐसा सोच लिया था कि मैं तूफान करूँगा। इससे उन्होंने मुझे रस्सी से बाँध के रखा। मैंने उन्हें बहुत समझाया कि, “मुझे छोड़ो, मैं भान में हूँ।” किन्तु सुने कौन? उतने में एक हमारे परिचित संन्यासी आ गये। उन्होंने पहचाना कि सचमुच मुझ में अब पागलपन नहीं है। उन्होंने कुटुंबियों को कहा, “उसके हाथपैर छोड़ डालो। वह कुछ करे तो जिम्मेदारी मेरी”। सब ने मेरे बंधन खोल दिये और आज मैं यहाँ आपके चरणों में हूँ।’

डॉक्टर ने पूज्य श्रीमोटा उनके घर पर पधारे ऐसी बिनती के साथ अभिलाषा व्यक्त की। जाते समय दोनों पति-पत्नी ने अपनी-अपनी ओर से रु.१०८-१०८ पूज्य के चरणों में रखकर विदाय ली।

सूरत आश्रम की इस घटना को हुए बराबर एक महीने बाद डॉक्टर ने पूज्य श्रीमोटा पर जो पत्र लिखा वह स्वयं स्पष्ट और भाव से भरा हुआ है।

“इस जीवन में बावला बनकर भी आप जैसों की गोद में सिर रखने का शुभ अवसर मिले तो उसके समान दूसरा उत्तम लाभ क्या हो सकता है? तापीमाता के पानी इस शरीर पर छा गये और सिर पर आ गये तब “तेरी इच्छा प्रभु सदैव मेरी” यह स्वामी रामतीर्थ की प्रार्थना मेरे मुँह से निकल गई और जीव अलौकिक रीति से सुरक्षित बाहर आ सका। उस प्रसंग में हरिःॐ आश्रम और उसके प्रणेता का गौरव प्रकट करने की “उस” की इच्छा थी, वह सिद्ध होता है।”

इस घटना पर से स्वाभाविक रूप से ही, मैं और हेमंतभाई एवम् दूसरे दो व्यक्ति पहली बार ही पोंडिचेरी गये थे, तब देखने को मिले एक प्रसंग की स्मृति का पुनः स्मरण होता है। वह ई. स. १९३९ का वर्ष था। ताराबहन नाम के एक गुजराती बहन बहुत ही संस्कारी हो वैसे लगते थे, फिर भी पागल की तरह पोंडिचेरी के समुद्र की रेत में छिन्न-भिन्न वस्त्रों में पड़े हुए दिखाई दिये थे। अकेली एक गुजराती बहन को ऐसी स्थिति में देखकर हम अनुकंपा के साथ उनके पास गये। हमारे आश्चर्य के बीच बातचीत में थोड़ा भी पागलपन का चिह्न न दिखे उस प्रकार वह बहन शुद्ध संस्कारी भाषा बोलती थीं। अंग्रेजी भी बोलती थी। वे विवाहित थी। पति थे। १५-१६ वर्ष की पुत्री भी थी और मुंबई में रहते थे। वहाँ से अकेले ही आये थे। उन्हें श्रीअरविंद के दर्शन की अनुमति नहीं दी गई थी। आश्रम के कम्पाउन्ड में प्रवेश करने की भी अनुमति नहीं थी। उस बहन ने श्रीअरविंद के दर्शन का बहुत ही आग्रह रखा था। पोंडिचेरी गाँव में एक लोज में रूम किराये पर रखकर रहते थे। लोज में भोजन करके सुबह-शाम आश्रम की





बाहर चक्कर लगावे । पास के बीच पर जाकर बैठे । कई आश्रमवासी गुजराती भाई-बहनों को उन पर दया आवे । कईओं ने तो उन्हें दर्शन मिले वैसे निष्फल प्रयास भी किये थे, किन्तु पूज्य श्रीअरविंद और माताजी की दृढ़ता “नहीं” पर ही चालू थी । इसलिए वह बाई चक्कर मारा करती थी । दूसरे साधकों के द्वारा आश्रम को और माताजी को उपहार भी भेजती थी । हमने उस बहन को समझाकर मुंबई उनके घर पर रवाना किया था । उस बहन की दर्शन की इतनी लगन होते हुए भी जब माताजी ने “नहीं” ही कहा, तब मेरे मन में आश्रम के प्रति अन्यथा भाव \*उत्पन्न हुआ था ।

यह सब इस डोक्टर साहब का प्रसंग हुआ, तब स्मरण हुआ । जिसका मन रीस जाता हो, भूतकाल में कभी भी पागलपन के दौर पड़े हो, उनका भावावेश चाहे शायद आरंभ में हमें सच्चा और प्रतीतिजनक लगता हो, फिर भी उनके मन का पागलपन कैसा जबरदस्त कब्जा ले सकता है, वह डोक्टर साहब के किस्से में अनुभव करने को मिला, तब श्रीअरविंद आश्रम की ओर के उस बहन के किस्से में मेरा जो अन्यथा भाव प्रकट हुआ था, वह कितना अज्ञानमय, दीन-हीन और विवेकशून्य था, वह समझ में आया । कितना भारी अन्याय पोंडिचेरी आश्रम को मन में उस वक्त किया था !!! यह घटना चाहे अलग रास्ते पर जाती हुई हकीकत मानी जाय, किन्तु मेरा इकरार लिखे बिना रह सकूँ ऐसा नहीं हूँ । हमारे अज्ञानभरे अहंकार में हम कितने छिछले होते हैं ! और फिर भी मुक्तपुरुषों (आत्मसाक्षात्कारी पुरुषों) को नापने की चेष्टा करते हैं । उनके न्यायधीश बनकर बैठते हैं और हमारे बुद्धिपूर्वकवाले (!) फैंसले देने बैठ जाते हैं ।

कितने वर्ष बाद सत्य समझा ! ऐसे तो कई अन्याय हम मानसिक रूप से करते होंगे । साधक को इस बाबत में सावधान ही रहना चाहिए । सचमुच ! इस प्रकार ही साधना यानी तलवार की धार पर चलना है । असिधारावत् पलपल की सभानता वह माँग लेता है ।



## ६. पूज्य श्रीमोटा की अनासक्ति

किसी भी मुक्तपुरुष का जीवन हमारे लिए प्रेरणास्रोत है। उनके जीवन के अनेक विविध पहलू होते हैं। उन पहलुओं का दर्शन करना और प्रमाणित करना, वह हमारे स्वीकार किये हुए हमारे नियम आदि से बिलकुल संभव नहीं है। हमारे मापदंडों से उनका मूल्यांकन नहीं हो सकता है। पूज्य श्रीमोटा वे मुक्त पुरुष थे। उनके जीवन का एक महत्तम गुण अनासक्ति-स्वकामनारहितपन था। उसका दर्शन करवानेवाले कुछ प्रसंगों का चित्रण करना यहाँ गलत नहीं माना जाएगा।

पूज्य श्रीमोटा दक्षिण भारत में रहते थे, तब वहाँ आश्रम की स्थापना करने का विचार उत्पन्न हुआ था। आश्रम के लिए स्थल, जमीन, मकान इत्यादि की तलाश के लिए बहुत घूमे थे। बिलकुल दक्षिण में त्रिची तक भी हो आये थे। आखिर कुंभकोणम् में वह आश्रम हुआ, वह बात सब जानते हैं। यहाँ प्रस्तुत प्रसंग है आश्रम की स्थापना के पहले का।

आश्रम की स्थापना का विचार सक्रिय होने लगा। उनके शिष्यों— मित्रों में से दो-एक ने उसे आयोजित स्वरूप से हाथ में लिया। एक सुंदर अपील तैयार की। परिचित व्यक्तियों में सभी को भेज दी। इस अपील द्वारा फंड एकत्रित करने का ठीक-ठीक कहा जाय वैसा काम हुआ। रु.८८०००/- जितने नक़द और रु. ३०,०००/- मकान के लिए ऐसे नक़द और वचनों का प्रबंध भी हो गया।

किन्तु एक दिन अचानक पूज्य श्रीमोटा ने हुक़म देकर आश्रम की स्थापना का वह विचार रद्द कर दिया। सब नक़द और दूसरा जिसका जिसका मिला था, वह उन्हें वापस कर दिया गया। यह घटना १९४८ में हुई। उस वक्त के एक लाख यानी आज के (१९८० में) दस लाख से भी ज्यादा मान सकते हैं।

यह सब तैयार हो गया हो, उसे रद्द करना वह कोई सामान्य निर्णयशक्ति का परिणाम नहीं है। ऐसा निर्णय अनासक्ति और स्वकामनारहित व्यक्ति ही ले सकता है। यह एक अपूर्व उदाहरण है और वह अनुभव की हकीकत है।

उपरोक्त घटना हुई उसके पहले ई.स. १९४६ में उनके एक मित्र-शिष्य को भावसमाधि (Trance) की स्थिति प्राप्त हुई। पूज्य श्रीमोटा के



मार्गदर्शन के नीचे वे अपनी साधना करते थे। पूज्यश्री के प्रति उनकी भाववृद्धि में कालक्रम में ठीक-ठीक उबाल आया और वह भावसमाधि (Trance) में परिवर्तित हुआ। उस स्थिति में वे लगभग सोलह घंटे रहे। वे हिंदी भाषा का उपयोग कहीं भी करते नहीं थे। ऐसी अनुकूलता भी नहीं थी। फिर भी भावसमाधि के दरमियान वे सतत हिंदी में ही बोलते रहते थे। उस स्थिति में उनकी अपनी सभी मिलिक्यत पूज्य श्रीमोटा के चरणों में गुरुसमर्पण भाव से रख देने का उनका विचार हुआ और उस प्रकार का आग्रह पूज्य श्रीमोटा के समक्ष उन्होंने रखा। सिर्फ कह कर ही रुक जाते तो प्रश्न नहीं था, किन्तु उन्होंने उसी पल रजिस्ट्रार को घर बुलाकर उस प्रकार का दस्तावेज करने की हठ पकड़ी। पूज्य श्रीमोटा के लिए धर्मसंकट खड़ा हुआ। उन्होंने बहुत समझाया। किन्तु वे नहीं माने। इससे पूज्यश्री ने “अच्छा” कहकर बात टाल दी। “हाँ, बुला रहे हैं।” ऐसा कहकर बात को ठेल दी। किन्तु उसका स्वीकार नहीं किया तो नहीं ही किया। भावसमाधि में से वह भाई मुक्त हुए बाद में उन्हें समझाने पर आग्रह छोड़ा। इस प्रकार डेढ़ लाख रुपये से ज्यादा की मिलिक्यत उन्होंने बहुत ही चातुरीपूर्वक अपने नाम होने से टाल दी। यदि उन्होंने इच्छा की होती या सोचा होता तो तो खुशी से वे पलभर में वैसा करा सकते थे, किन्तु उन्होंने वह संपूर्ण रूप से टाल दिया।

इस प्रकार करने में दूसरा एक गौण हेतु भी उन्होंने साथ-साथ साधा। उस मित्र-शिष्य के एक बुजुर्ग थे, पास में ही रहते थे। कई बार साथ में भी रहते थे। उन्हें ऐसे गुरु-शिष्य के संबंध के बारे में थोड़ी आशंका रहा करती थी। उस मतलब के कुछ-कुछ परोक्ष ताने समान उद्गार भी उनसे निकल जाते थे। यह भगतपना वह एक ठग लेने का आकर्षक साधन है, ऐसी कुछ अन्यथा भाव की मान्यता गहराई में थी जरूर। पूज्यश्री वह संकेत समझ भी गये थे, किन्तु अपने स्वबचाव में या अपनी निष्ठा-प्रामाणिकता प्रदर्शित करने की कोई भी चेष्टा उन्होंने नहीं की। इससे इस प्रसंग द्वारा उन्होंने “एक तीर से दो शिकार किये।” अपनी निःस्पृहता और अनासक्ति के दर्शन तो करवाये, किन्तु साथ-साथ उस बुजुर्ग के हृदय में स्थान प्राप्त किया। उससे बुजुर्ग को इस घटना के बाद उनमें संपूर्ण श्रद्धा प्रकट हुई, उतना ही नहीं, किन्तु अत्यंत भक्तिभाव से उनका स्वीकार किया।

दूसरे एक प्रसंग में उनके साथ हरिजन सेवक संघ में काम करनेवाले उनके एक मित्र-शिष्य ने उनको अपनी संपूर्ण बचत रकम (दूसरे अर्थ में अपना सर्वस्व) पूज्य श्रीमोटा के चरणों में रख दी। पूज्य श्रीमोटा ने उनको





बहुत मना किया, फिर भी वे माने नहीं, तब हरिजन सेवक संघ में “चुनिलाल भगत नंबर — २” ऐसा खाता खुलवाकर उसमें रखे। दो—चार साल बाद वह खाता बंद करके उसकी संपूर्ण रकम उस मित्र-शिष्य को वापस कर दी। इस प्रकार, disinterestedness in monetary matter — आर्थिक बाबतों में निःस्वार्थता का अभिगम उन्होंने दिखाया।

बाद में जब लोकसंग्रहार्थ उन्होंने सामाजिक कार्यों का प्रारंभ किया और उस बारे में आवश्यक रकम के लिए जोरशोर से पैसे माँगना आरंभ किया, तब कई लोग तो “मोटा को सिर्फ पैसे ही चाहिए।” — ऐसी टीका-टिप्पणी करके उनसे दूर भागते थे। उन दिनों में भी ऐसे लोगों की मान्यता जड़मूल से गलत सिद्ध करने के कई किस्से हुए थे, जिसका प्रत्यक्ष अनुभव कड़ों को हुआ है।

पूज्य श्रीमोटा के स्वयं के शरीर की निजी सेवा में बारबार रहनेवाली एक डॉक्टर बहन को मौन में बैठने का प्रसंग था। पाँच दिन की मौनअवधि बितने के बाद अत्यंत भावोद्रेक की स्थिति में पूज्य श्रीमोटा के दर्शन (स्थूल दर्शन) की तीव्र तमन्ना जागी, किन्तु मौन में से बाहर तो निकल सकते नहीं। इससे ऐसे दर्शन संभव कैसे हो सकते थे ? उन्होंने तो अपने उस भाव को अपने अनुकूल ऐसे गाने की लय में भजन की रचना करके खिड़की में रख दिया। भजन पूज्यश्री के पास पहुँचा। पूज्यश्री ने भजन सरलता से गा सकनेवाले एक भाई को भेजा और उन्हें कहा कि, “वह भाई मौनरूम के बाहर खड़े हैं। तुम जिस लय में गावोगे, वह वे सुनेंगे और मुझे उस लय में गाकर सुनायेंगे।” और वैसा हुआ भी सही। भजन सुनने के बाद पूज्यश्री ने कहा, “ऐसी दर्शन की आतुरता हो तो दर्शन के लिए बाहर निकालूँ। किन्तु एक शर्त कि पैसे देने पड़ेंगे।” उस बहन ने अनुमति दी। पूज्यश्री के दर्शन मात्र से उनकी आँखों में से भावाश्रु बहने लगे। उन्होंने अपने सोने के सभी गहनें पूज्यश्री के चरणों में समर्पित करने का संकल्प किया। गोकुलअष्टमी के दिन पूज्यश्री की उनके वहाँ पथरावनी हुई, तब बहन ने अपने पंजर तोले जितने गहनें, जिसमें पितृपक्ष के द्वारा मिले हुए सात तोले जितने गहनें थे, वे पूज्यश्री को पहनाये और उन्हें समर्पित किए। बहनें सोना का मोह छोड़कर सोने की हर एक चीज समर्पित कर दे ऐसे उस प्रसंग से पूज्यश्री गद्गदित हो गये। उन्होंने कहा, “यह गहनें मुझे मिल गये। अब तुम यह मेरे तरफ से तुम्हारी कस्टडी में रखो।” ऐसा कहकर सभी गहनें वापस किये। ई. स. १९६८ की यह घटना है।

दूसरी तरफ वर्षों से कुटुम्ब जैसा संबंध रखनेवाली एक बहन के







पास से पंद्रह हजार रुपये का हीरे का हार स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार मुक्त के वर्तन का कोई चौकस नियम नहीं होता है। किसका स्वीकार करना और किसका स्वीकार न करना, उसमें उनका सूक्ष्म विवेक रहा हुआ होता है, जो सामान्य व्यक्ति की दृष्टिमर्यादा के बाहर का है।

एक व्यापारी भाई को पूज्य श्रीमोटा के साथ हृदय का संबंध हो गया था। कर्म की गति न्यायी, उस न्याय से उनके व्यापार में भारी नुकसान हुआ। समृद्धि नष्ट हो गई। कार में घूमते थे, वे पैदल चलते हो गये। बस में सफर करे। जो कुछ हो गया, उसका अफसोस उन्हें नहीं था। यह तो सचमुच वास्तविक परिस्थिति के दर्शन के लिए ऐसा वर्णन किया। ऐसी स्थिति में भी पूज्यश्री के प्रति उनके दिल का हुलास और भाव वैसा का वैसा समृद्ध ही रहा। वे और उनके पत्नी रु. ५०००/- का चेक लेकर पूज्य श्रीमोटा के चरणों में भेंट करने आये। ऐसे कठिन काल में भी पूज्यश्री उनकी भक्ति देखकर गद्गदित हो गये। पूज्यश्री ने अत्यंत स्नेह और आदरपूर्वक उनका चेक वापस दिया। उनके ऐसे कठिन दिनों में उसका स्वीकार पूज्यश्री कैसे कर सकते हैं ? यह उनका सूक्ष्म विवेक।

किसी समय ऊपर के किस्से जैसा मुक्त पुरुष का सूक्ष्म विवेक हम समझ सकते हैं। तो दूसरे किसी समय ऐसा विवेक रहस्यमय ही रहता है। कोई दिखनेवाला कारण हमें न समझ में आवे, फिर भी वे किसी भी मूल्य की भेंट का भी वे स्वीकार न करें।

दक्षिण भारत में एक समय प्रवास करनेवाले मुंबई के व्यापारी बंधुओं का दक्षिण भारत की ओफिस पर जाने का हुआ था। बड़े भाई ने पूज्य श्रीमोटा को रोलेक्स हाथ की कलाई घड़ी भेंट दी। उन दिनों में उसका मूल्य रुपये तेरह हजार जितना था। पूज्य श्रीमोटा ने भेंट वापस दी। बहुत गिड़गिड़ाने पर भी उन्होंने उसका स्वीकार नहीं किया तो नहीं किया।

दूसरी तरफ थोड़ा हास्य प्रेरित हो ऐसा एक प्रसंग है। अहमदाबाद में एक प्रोफेसर के घर पूज्य श्रीमोटा की पधरावनी हुई थी। उनके एक वकील मित्र थे। पूज्य श्रीमोटा के साथ पूर्व परिचय भी था। उस दिन पूज्य श्रीमोटा को कोई “ॐ नमः शिवाय” के बड़े अक्षरो में लिखे हुए पोस्टर भेंट दे गया था। पूज्य श्रीमोटा उसे हरएक को चार आने में देते थे। मुफ्त कुछ भी किसी को देना नहीं, ऐसा उनका रिवाज। उस वकील मित्र ने तो आकर चरणस्पर्श करके थाली में ग्यारह रुपये रखे। पूज्य श्रीमोटा ने उनको वह कार्ड दिया। उन्होंने उसे स्वीकार किया और अपनी जगह पर बैठ गये। पूज्यश्री ने तो चार आने की उगाही की। उस वकील सज्जन ने कहा कि





थाली में ग्यारह रुपये रखे हैं। पूज्य ने कहा, “ भले रखे, किन्तु इसके चार आने लाइये। ” ऐसा है मुक्तपुरुष का अनोखा वर्तन। सच में कहा ही है कि; **“निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।”** अर्थात् मुक्त पुरुष का वह ऐसा करे या ऐसा ना करे ऐसा कोई विधिनिषेध नहीं है।

कुंभकोणम् में पूज्य श्रीमोटा ने अपने पैसों से आश्रम का निर्माण किया। फिर भी अपने लिए मुख्य मकान से अलग कमरे का निर्माण करने का उन्होंने नहीं किया था। यद्यपि बाद में वहाँ के स्थानिक व्यवस्थापकों ने १९६० में उनके लिए अलग कमरा बनवाया। उसी प्रकार नडियाद में भी एक छोटा अलग कमरा था। वह कमरा भी उन्होंने दूसरे एक भाई को रहने के लिए दे दिया था। वह भाई नडियाद के ट्रस्टी के मित्र थे। दूसरा कोई घनिष्ठ संबंध नहीं था और साधना के लिए आश्रम में रहे थे। इस प्रकार अपने नाम पर बना हुआ कमरा भी दूसरे को उपयोग करने को दे दिया था। उस भाई के जाने के बाद ही उन्होंने उस कमरे का उपयोग किया। किन्तु वहाँ तक तो वे अंदर के अंधेरे कमरे में ही सो रहे थे। वह कमरा वह वर्तमान में नडियाद आश्रम के रसोई घर के अंदर का मौनमंदिर के पासवाला कमरा।

इसी प्रकार सूरत आश्रम पर भी उन्होंने अपना अलग कमरा नहीं रखा था। बाद में सूरत आश्रम के संचालक श्री भीखुभाई\* को लगा कि “यह योग्य नहीं है।” पूज्य श्रीमोटा के लिए अलग कमरा होना चाहिए ऐसी आवश्यकता उन्हें लगी। उनकी पत्नी श्रीमती विद्याबहन ने स्वयं अपनी मृत्यु के समय पूज्य श्रीमोटा के चरणों में रुपये सात हजार की रकम समर्पित की थी। वह रकम वैसी की वैसी रखी हुई थी। उस रकम का उपयोग करके पूज्यश्री के लिए अलग कमरा निर्माण करने का भीखुभाई ने दृढ़ता से निर्णय किया और निश्चय का अमल भी किया। इस प्रकार पूज्यश्री की “मनाई” होते हुए भी भीखुभाई ने अपनी भक्ति से प्रेरित होकर अलग कमरे का निर्माण करवाया। इस प्रकार सूरत और कुंभकोणम् में उनके लिए अलग कमरे की व्यवस्था अस्तित्व में आई। वह उन दोनों आश्रमों के स्थानिक संचालकों की इच्छा से हुआ था। पूज्य ने स्वयं तो कभी ऐसी इच्छा नहीं की थी।

आज उन कमरों को देखनेवालों में से कइओं को शायद कोई अन्यथा भाव भी उत्पन्न हो। ऐसा सोचे भी सही कि “कैसे ऐशोआराम में और वैभव में महाराज रहते थे।” किन्तु ऊपर बताये अनुसार उन कमरों के बारे में पूर्वभूमिका का उन्हें कहाँ से ख्याल होगा? वे आजकल अन्य ऐसी



\* तत्कालीन व्यवस्थापक ट्रस्टीश्री।



संस्थाओं में जिस प्रकार सब चलता है, उसी प्रकार ही सोचेंगे और आधी अधूरी माहितीवाली और भूलभरी हुई हकीकत से वैसा सोचे उसमें उनका क्या दोष देखना? पूज्यश्री ने तो आश्रम के साथ जुड़े हुए बहुजनसमाज के मध्यमवर्गीय स्वजनों के जीवन जैसे जीवनपद्धति का आग्रह आश्रमवासियों के लिए रखा है, उसका ख्याल उन्हें किस प्रकार होगा? ऐसी निम्न जीवनपद्धति के लिए आश्रम में मिठाई बनाने की, तेल-घी की कढ़ाई चढ़ाने की और घी का उपयोग करने की पूज्यश्री ने सख्त मनाई की है। जिससे आश्रमवासी और आश्रम के साथ जुड़े हुए मध्यमवर्गीय स्वजन एकदूसरे के साथ तादात्म्य अनुभव कर सकें।

कुंभकोणम् और सुरत में जब आश्रम का निर्माण कार्य चल रहा था, उस समय उन्होंने अपनी पसंद का आग्रह नहीं रखा है। अपनी इच्छा दूसरों पर डाली भी नहीं है। कुंभकोणम् में कुछ ज्यादा ही मितव्ययिता से काम लिया गया। वहाँ का मौन का कमरा और दूसरा सब उन्होंने दिये हुए नाप से छोटा हुआ। फिर भी उन्होंने कभी असंतोष व्यक्त नहीं किया। दूसरी तरफ सुरत में श्रीभीखुभाई ने खुले हाथ से Lavishly जरूरत से ज्यादा मोटी लकड़ी और वैसा सब उपयोग करके बहुत ज्यादा खर्च किया। फिर भी उन्होंने बीच में टोका नहीं। यद्यपि उन्हें मिली हुई निजी बहुत सी रकम सुरत आश्रम के मकान के निर्माण के लिए उपयोग करने को दी थी और इससे वे इच्छा करते तो श्रीभीखुभाई को खुले हाथ से खर्च करने पर रोक सकते थे। ऐसा नहीं किया उसके पीछे भी उनकी विशिष्ट विचारदृष्टि रही हुई है। वे हमेशा कहते, “**किसी को हमने किसी काम की जिम्मेदारी दी उसके बाद हमारी समझ का या रीति का आग्रह नहीं रखना चाहिए। करने देना और वह काम जैसे-जैसे आकार ले वैसा होने देना चाहिए।**” इस विचार में सत्य का एक महान अंश रहा हुआ है। यह बिलकुल नैसर्गिक है कि हर एक व्यक्ति अपनी प्रकृति के अनुसार ही अपने काम को आकार देगा और वह स्वाभाविक ही माना जायेगा। इससे हमारे सूचन का अमल न हो तो मनदुःख नहीं होने देना चाहिए। ऐसा अनाग्रही वर्तन कितने व्यक्ति कर सकेंगे? मुक्त पुरुष का एक मुख्य लक्षण ऐसा अनाग्रहीपन है। वे कहाँ आग्रह रखना और कहाँ नहीं रखना वह बराबर समझते हैं और वह उनके काबू की बात है। कई बार पूरा कुम्हड़ा सब्जी में जा रहा हो तो जाने दे; तो कई बार छोटे से कन को भी सरकने न दे। ज्ञानी की गति गहन कही है, वह इसीलिए ही।



## ७. स्थिति और वृत्ति

सामान्य जनसमूह ज्यादातर चली आ रही रूढ़ि के अनुसार जीवन बिताता है। हमारे धार्मिक जीवन को भी वह बाबत लागू पड़ती है। धर्म के मुख्य दो पहलू हैं। एक बाह्य और दूसरा आंतरिक। कर्मकांड करना, पूजाविधि करना, तिलक जैसे बाह्यचिह्न धारण करना, मंदिर-मस्जिद या चर्च में जाना, धर्म के अनुसार अलग-अलग धार्मिक स्थलों की यात्रा पर जाना, धर्म के अनुसार अलग-अलग धर्मग्रंथ जैसे कि गीता, कुरान, बाईबल इत्यादि पढ़ना— इन सब बाबतों में एक धर्म दूसरे धर्म से विविधता या भिन्नता दिखाता है, क्योंकि वह धर्म का बाह्य स्वरूप है। बाह्य स्वरूप में यह भिन्नता देखेगी, किन्तु आंतरिक स्वरूप देखें तो एकरूपता दिखेगी। आंतरिक स्वरूप यानी मन, हृदय आदि के गुण विकसित करना। हृदयशुद्धि, चित्तशुद्धि इत्यादि करना। इस आंतरिकस्वरूप पर जोर देनेवाले और उस अनुसार जीवन जीनेवाले कोई ही विरल व्यक्ति मिलेंगे। धर्म के इस आंतरिक स्वरूप का एक विशिष्ट लक्षण यह होता है कि बाह्य स्थिति, विधि, क्रियाकांड और आंतरिक वृत्ति के बीच का ऐक्य। यह समझने के लिए पहले तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वृत्ति और स्थिति के बीच अन्तर रहा हुआ है।

स्थिति यानी बाह्य प्रकार से आप जिस वातावरण में हो वह। उस स्थिति के अनुसार वृत्ति हो या न भी हो। हो ही ऐसा अनिवार्य नहीं है। मानव मन ऐसा तो अद्भुत और अगोचर रीति से काम करता है कि बाह्य स्थिति के साथ आंतरिक वृत्ति की एकरूपता हो ही ऐसा नहीं होता है। इससे अध्यात्म का मूलभूत हेतु वृत्ति को विकसित करना, और नियंत्रित करने का है। बाह्य स्थिति चाहे जैसी हो, किन्तु आंतरिक वृत्ति तो परम तत्त्व के साथ-चेतन के साथ, कहो कि भगवान के साथ ही जुड़ी हुई रहे यही हमारा लक्ष्य है। **हम आश्रम में उपस्थित हो तो वह हमारी एक स्थिति हुई, किन्तु वृत्ति यदि आश्रम में न हो तो सिर्फ स्थिति से लाभ होनेवाला नहीं है।** कथा सुनने जावे तो वह एक स्थिति हुई, किन्तु वृत्ति यदि व्यापार के विचार में डूबी हुई हो तो वैसी स्थिति व्यर्थ है। इससे जोर स्थिति पर न रखते हुए वृत्ति पर रखना चाहिए। यद्यपि सभी धर्म का मूलभूत हेतु तो वही है, किन्तु कालक्रम में उसे भूला दिया गया और स्थिति को ही वृत्ति में मानने की परंपरा प्रारंभ हुई।



इसके लिए एक उत्तम दृष्टांत श्रीरामकृष्ण परमहंस ने दिया है। दो मित्र थे। दोनों को कलकत्ता जाने का हुआ। शाम हो गई। ट्रेन के समय के पहले काम पूरा नहीं हो सका। स्टेशन पर आये, तब ट्रेन चली गई थी। अब क्या करना? दोनों सोचने लगे कि रात कहाँ बितानी चाहिए? एक मित्र ने सुझाव दिया कि एकादशी का उत्सव है। इसलिए रात्रि मंदिर में प्रभु-भजन में बितावे। दूसरे मित्र को वह पसंद नहीं आया। उसे लगा कि पूरी रात्रि ऊब जायेंगे। इससे तो वेश्यागृह में जाकर आनंदप्रमोद में दिल को बहलाने में क्या हरकत है? दोनों अपनी-अपनी इच्छानुसार — एक मंदिर के उत्सव में और दूसरा वेश्यागृह पर—गया। मंदिर के उत्सव में हाज़िर रहनेवाले मित्र को मन में बारबार विचार आने लगे कि, “मैं कहाँ यहाँ फँस गया? वह मेरा मित्र कैसा आनंद कर रहा होगा! मैं कहाँ इस ऊकताहटवाली स्थिति में आ गया?” जब कि वेश्यागृह पर गये हुए मित्र को उसका दिल डंकने लगा। वह सोचने लगा, “मैं कैसा नराधम और पापी हूँ कि संजोगों अनुसार जो प्रभुभजन में लीन होने का प्रसंग मिला था, उसे भी टुकराया! मेरे जैसा दूसरा पापी कौन? मेरा वह मित्र कितना पवित्र है कि उसे वैसे पवित्र स्थल पर जाने का सूझा! मुझे यहाँ आने का क्यों सूझा?” इस प्रकार एक कथा में बैठा था, उसकी वैसी स्थिति होते हुए भी उसका मन वेश्या में रहा हुआ था। यह उसकी वृत्ति थी, जबकि दूसरा वेश्यागृह पर था। उसकी वैसी स्थिति थी, फिर भी उसकी वृत्ति थी भगवान के भजन में, कथावार्ता में। इस दृष्टांत द्वारा श्री रामकृष्ण ने समझाया कि **जैसी जिसकी वृत्ति, वैसी उसकी स्थिति होगी। स्थिति वैसी वृत्ति हो ही ऐसा नहीं है, किन्तु वृत्ति वैसी स्थिति अवश्य होगी, उसमें कोई शंका नहीं है। इसलिये मुख्य आधार वृत्ति पर है। भावना जैसी हो वैसी सिद्धि मिलती है—“यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।”**

एक मनुष्य चाहे जैसी अच्छी स्थिति में हो, अच्छे से अच्छे पवित्र स्थल पर हो, किन्तु मन से तो बाहर भटकता रहता हो, विषयों में भटकता हो तो वैसी स्थिति भी व्यर्थ है। इससे महत्त्व स्थिति का नहीं है, वृत्ति का है। मन को यदि उस उत्तम वृत्ति में ही लीन होने को विकसित कर दिया हो तो बेड़ा पार हो जायगा! **मन की सभी क्रियाएँ करते हुए भी वृत्ति सिर्फ भगवान में रहा करे तो मनुष्य अपने सोचे हुए मोक्ष का उद्देश सिद्ध कर सकता है। इसी अर्थ में कहा गया है कि : मनएव मनुष्याणां कारणम् बंधमोक्षयोः।**

इस पर से यह भी कहा जा सकता है कि वृत्ति के कारण स्थिति





**आएगी । स्थिति के कारण वृत्ति नहीं आ सकती है ।** यह हम सब को समझ लेने की जरूरत है । इसलिए हमें वृत्ति की हृदयपूर्वक सँभाल बहुत-बहुत रखना है । कथावार्ता सुने या आध्यात्मिक आश्रम में जाकर आवे या वहाँ रहे वह बुरा नहीं है । अलबत्ता, यहाँ एक वस्तु का स्वीकार कर लेवें कि “इस” मार्ग पर पहले कदम रखकर शुरूआत करनेवाला व्यक्ति आरंभ में मन की वृत्तियों को तुरंत चाहे सोचे हुए मार्ग पर न ले जा सके और एकदम उस स्थिति में स्थिर भी न हो, किन्तु हमारा प्रयत्न और जागृति एवम् लम्बी अवधि की मन की तालीम उस दिशा में सतत रहा करती होगी तो वृत्ति के कारण वैसी स्थिति हो सकती है । स्थिति संजोग अनुसार भी मिलती रहती है, जैसे कि सत्संग या किसी मुक्तात्मा का संपर्क । किन्तु यदि वैसी, उसके अनुरूप वृत्ति नहीं होगी तो वह किसी उपयोग में नहीं आ सकेगी । **चाहे जैसी स्थिति हो—अनुकूल या प्रतिकूल—तो भी वृत्ति उर्ध्वगामी रहा ही करे तो वह उत्तम ।**



## ८. ईर्ष्या—द्वेष—मत्सर

हम सब जीवनविकास की साधना कर रहे हैं। उस जीवनविकास का थरमामीटर क्या ? ऐसे एक प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द में यदि देना हो तो वह है “चित्तशुद्धि” यानी कि चित्त-मन-अंतःकरण इत्यादि के मैल, विकार तथा वृत्तिओं की शुद्धि। हमारे शास्त्रों में भी अंतःकरण के षड्रिपु-६ शत्रु—माने हैं। वे हैं—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ और मत्सर। इन सब में से क्रमवार मुक्ति प्राप्त करना, मन में या हृदय में उसके किसी प्रकार के आविष्कार को सहज रीति से उठने न देना वह है जीवनविकास का अंतिम लक्ष्य।

ऊपर जो षड्रिपु बताये हैं, उसमें मत्सर को बिलकुल अंतिम रखा है। फिर भी यह याद रखना जरूरी है कि उसके पहले के जितना ही प्रबल है। उसे ईर्ष्या-द्वेष इत्यादि नामों से भी हम पहचानते हैं। इन षड्रिपुओं में से उसके एक की बात की यहाँ चर्चा कर लेवें। उसकी जानकारी हमारे जीवनविकास में अवश्य लाभकारक होगी।

आखिरकार तो सब षड्रिपु हमारे हृदय और मन में रहे हुए हैं। मन और हृदय को गहरा संबंध है। किसी मानसिक वृत्ति या अभिगम की असर हृदय पर होगी ही। जीवदशा की हमारी स्थिति में इस बाबत का स्वीकार करके ही चलना जरूरी है। इससे ईर्ष्या-द्वेष-मत्सर की वृत्ति भी मन में उठे और हृदय को असर करे। जब वह तीव्र मात्रा में हो, तब उसे पहचानना कठिन नहीं है। सहजता से उसकी जान-पहचान हो जाती है, किन्तु जब वह सूक्ष्म रूप लेकर आती है, तब उसे पहचानना कठिन हो जाता है। साधक को अपने मन की वृत्ति-अभिगम को पहचानने के एक भागरूप में उसके सूक्ष्म स्वरूप को पहचानने की कला और सूझ विकसित करनी ही चाहिए। तो ही जीवनविकास योग्य दिशा और गति पकड़ सकेगा।

ईर्ष्या-द्वेष-मत्सर तब ही उत्पन्न होते हैं कि जब हमारे में किसी वस्तु या व्यक्ति के बारे में अमुक खास प्रकार की कामना हो या हमारे में उसकी आसक्ति हो। यदि हमारे में किसी भी प्रकार की कामना या आसक्ति न रही हो तो किसी के लिए भी मत्सर उत्पन्न होता ही नहीं है।

**मुक्तात्मा कामना से पर है, इसलिये ही वह द्वेष-मत्सररहित है।**

इस प्रकार मत्सर एक बड़ी समस्या है। मत्सर-ईर्ष्या के सूक्ष्म



स्वरूप अनेक प्रकार के हैं। विविध दृष्टांतों द्वारा ही वह ज्यादा अच्छी तरह समझे जा सकते हैं।

किसी एक व्यक्ति के प्रति हमें पहचान नहीं है। कोई राग नहीं है। हमें यह मालूम हो कि वह व्यक्ति दस लाख रुपये कमा चुका है और आर्थिकरूप से बहुत सुखी हो गया है। हमारी चित्तशुद्धि हो तो यह हकीकत सुनकर हमें प्रसन्नता होनी चाहिए। उसके बदले यदि अप्रसन्नता हो, मन में सहज भी चटपटी हो और उसके बारे में उलटा सोचे और वह व्यक्त करें तो वह हमारी ईर्ष्या और मत्सर तो है ही। इस बाबत आसानी से समझ सकते हैं, किन्तु उसके पीछे भी हमारा कोई अभाव काम करता होता है। और वह धनप्राप्ति की हमारी लालसा पूरी नहीं हुई है उसका कारण है।

ऐसा ही एक दूसरा दृष्टांत सोचें। हमारे कोई भूले हुए बालमित्र के बारे में हमें अचानक खबर मिले कि वह तो जनसमाज की दृष्टि से बहुत प्रकाश में आया है, बड़ा नेता बन गया है और उसे अत्यंत प्रसिद्धि मिली है। उस समय यदि हमें सुख के बदले दुःख का भाव उठे तो समझना कि हमारे में प्रसिद्धि का मोह रह गया है। वह हमें नहीं मिली और उसे मिली ! उसमें से सूक्ष्म प्रकार की ईर्ष्या पैदा होती है। प्रसिद्धि का मोह अभी हमारे में भरा पड़ा है ऐसा समझना।

ऐसा ही सत्ता का भी सही। जिसके साथ आते-जाते नमस्कार का संबंध है, ऐसा हमारा कोई पड़ोशी अचानक राज्यपाल बन जाय या मुख्यप्रधान हो जाय और यदि हमारे में उससे दुःख का भाव प्रकट हो तो हमें समझना चाहिए कि हमारे में अभी सत्ता का मोह बाकी बचा है।

इन सब दृष्टांतों से यह निष्कर्ष निकाले कि किसी के भी कोई शुभ समाचार सुनकर उसे गिरा देने का मन हो या तो वह माहिती बराबर नहीं है ऐसा बोलने का और सोचने का मन हो, उसमें से कुछ प्रतिशत घटाने का मन हो तो जानो कि उस-उस समाचार की घटना और विषय में हमारी आसक्ति है। हमारे पास वह नहीं है, उसका हमें आंतरिक दुःख है और उसका अफसोस है, वह प्राप्त करने की इच्छा है।

हम यदि गहराई से हमारे स्वयं को खोजेंगे तो हमें स्वयं ही भरोसा हो जाएगा कि जो वस्तु या घटना के साथ हमें निसबत नहीं है, जिसे प्राप्त करने की हमें बिलकुल इच्छा नहीं है, मन नहीं है, उसके प्रति द्वेष नहीं होगा। यदि हम उस बाबत के प्रति अलिप्त होंगे, निर्लेप होंगे तो उस बारे में हमें ईर्ष्या नहीं होगी।

हम जब ऐसा अनुभव करें कि हमारे से दूसरे किसी को विशेष मान







मिला हो और यदि वह हमारी आँखों में चूभे तो समझना कि अभी हमें मान अपमान लगता है। उसके प्रत्याघात का हम अनुभव कर सकते हैं। यानी कि मन अभी उसमें रहा हुआ है। इस प्रकार जब-जब सूक्ष्म मत्सर की मनोवृत्ति हो, तब समझना कि हम ईर्ष्या-द्वेष, मत्सर से पर नहीं हुए हैं। इतना ही नहीं, किन्तु हमें कुछ न कुछ कामना रही हुई है। इसका एक अन्य परिणाम उत्पन्न होता है कि जब द्वेष पैदा होता है, तब हम कुछ अंशों में हमारी प्रसन्नता गँवा देते हैं। पूरी तरह ईर्ष्या निर्मूल हुए बिना अखंड प्रसन्नता संभव नहीं है। इसलिए ईर्ष्या-द्वेष को निर्मूल करने के लिए हमें भगीरथ प्रयत्न, सावधानी और जागृति रखनी पड़ेगी।

जब किसी भी घटना को देखने से या समाचार सुनने से हमारे मन में सहज भी अप्रसन्नता की, असुख की, चटपटी की लहर का अनुभव हो, तब चेत जाना कि यह हमारी कमजोरी है और उसमें से समय पर निकल जाना जरूरी है। ऐसे मत्सर के तो अनेकानेक सूक्ष्म प्रकार हैं और एकएक से बढ़िया भी वह है। जैसे रावण के दस सिर होने का माना जाता है, वह अहम् के प्रतीकरूप में है। श्रीअरविंद ने कहा है कि अहम् के तो हजार मस्तक हैं, वैसा ही मत्सर का भी है। हजारों रूप से हमारे सामने सादृश्य होता है, किन्तु वह कब होता है? जब हम हमारे मन की वृत्तियों को बारीकाई से अंतर्मुख दृष्टि से देखने का किया करें तब। फिर तो एक ऐसी स्थिति आ जाती है कि देखना भी नहीं पड़ता है, अपनेआप अंतर्मुखता से उसकी जान हो जाती है।



## ९. आशीर्वाद के साथ पुरुषार्थ और जागृति की जरूरत

पूज्य श्रीमोटा सदैव तत्त्वग्राही रहे हैं। तत्त्वग्राहीपन यानी क्या ? स्थूल उदाहरण लें। नारियल लें तो उसे काटकर ऊपर का भाग निकाल कर नरेली काट कर पानी निकालते हैं, तब अंदर का गर्भ निकाल कर बाकी का सब फेंक देते हैं। यह तो हुआ स्थूल दृष्टांत, किन्तु पूज्य श्रीमोटा तत्त्वज्ञानी हैं, वह किस अर्थ में ? हरएक प्रसंग, हरएक क्रिया, हरएक चर्चा, विचारविमर्श, हकीकत, प्रवृत्ति इत्यादि में मूलभूत तत्त्व को पकड़ना। आसपास की निरर्थक बातों की ओर लक्ष्य ही न देना उस अर्थ में पूज्य श्रीमोटा तत्त्वज्ञानी हैं। किन्तु इतना समझना भी काफी नहीं है। समग्र जीवन की हरएक प्रवृत्ति करें, उसमें हमारा जीवनविकास कितना हुआ? समग्र जीवन उन्नत कितना हुआ ? उस ओर ही अर्जुन की वेधक दृष्टि स्थिर हो जाय। उसका नाम सच्चे अर्थ में तत्त्वग्राहीपन। उसमें सच्ची उपयोगिता है। वह प्रवृत्ति हमें जीवन के आध्यात्मिक विकास के लिए कितनी उपयोगी हुई ? ऐसी दृष्टि सतत रखना, ऐसी सभानता विकसित करना यही सच्चे अर्थ में पूज्य श्रीमोटा का तत्त्वग्राहीपन है। उसे “वाद” भी नहीं कह सकते हैं। वे तो लगातार सावधानी-कड़ी निगरानी रखते हैं कि जो कुछ करे उसमें से स्वविकास-तत्त्व क्या प्राप्त करते हैं? कई पूज्य श्रीमोटा की पधरावनी अपने वहाँ करवाते थे। कई दर्शन देने के लिए आग्रह रखते थे, कई उनके हाथों से बहीपूजन करवाते थे। इस प्रकार अलग-अलग प्रसंग पर वे उपस्थित रहे, ऐसी इच्छा रखते थे। ऐसे सब प्रसंग सचमुच लाभदायक हो सकते हैं ? ऐसा एक प्रश्न उठता है। उसका जवाब यह है कि पूज्यश्री के पास यह सब करवाने के पीछे कौनसा हेतु काम करता है, उसके ऊपर ऐसे प्रसंगों में से सच्चा लाभ मिलेगा या नहीं इसका आधार रहता है।

इतना तो चौकस है कि संतपुरुष और महात्मा के साथ के इस प्रकार के संबंध के बारे में मनुष्य के मन में विविध हेतु रहे हुए होते हैं। कोई ऐसा माने कि गुरु या मुक्तात्मा या महात्मा प्रसिद्ध है, लोगों में सुप्रसिद्ध है, प्रतिष्ठित है, इससे उनके आगमन से हमें प्रतिष्ठा मिलेगी। ऐसा ख्याल अनेकों को हो, वह बिलकुल स्वाभाविक है। किन्तु तत्त्वग्राही दृष्टि से देखें तो इस हेतु से पधरावनी करवाने से उसकी आध्यात्मिक दरिद्रता बिलकुल कम नहीं होती है। उलटा उससे तो पधरावनी करवानेवाले के अहम् का पोषण होता है। और उसके परिणाम स्वरूप उसका अहम् दृढ़ होता है, यह



हुआ नुकसान। उसका अर्थ यह भी नहीं कि पधरावनी नहीं करना। यहाँ तत्त्व इतना ही है कि पधरावनी करते वक्त हमारा हेतु जीवनविकास का हो, ऊर्ध्वगामी हो। उसके लिए सतत जागृति हो तो उसमें से बहुत लाभ होगा।

तो ऐसे पवित्र पुरुषों की पधरावनी बाबत में कइओं की दृष्टि अत्यंत मर्यादित और स्वार्थी होती है। ऐसे पवित्र पुरुष के मांगलिक प्रसंग से घर में कुछ अनिष्ट नहीं होगा। सफलता ही मिलेगी। उनके आशीर्वाद से सांसारिक लाभ ही होगा। तो फिर कइओं के दिल में ऐसा भी होता है कि इस पधरावनी के निमित्त से ऐसे पुरुष के आत्मा के साथ का हमारा संपर्क बढ़ेगा। उनके इतने निकट आयेंगे और हमारा उससे “कल्याण” होगा ऐसा भी ख्याल होता है।

इस प्रकार ऐसे अनेक प्रकार के हेतु ऐसे आमंत्रण के पीछे हो सकते हैं। जैसी भावना होगी, वैसी सिद्धि प्राप्त होगी। प्रतिष्ठा का ख्याल होगा तो प्रतिष्ठा मिलेगी। अहम् के पोषण की इच्छा होगी तो वैसा होगा। सांसारिक स्वार्थ साधने की इच्छा होगी तो उसके लिए की दूसरी शर्तें पूरी करनी पड़ेगी।

एक बात स्पष्ट समझ लेने जैसी है कि ऐसे संतात्माओं की पधरावनी से लाभ नहीं मिल सकता। आप ऐसे महात्मा की पधरावनी करें जरूर, उनके हाथ से शुभारंभ भी करावे जरूर, किन्तु बाद में योग्य प्रकार से ध्यान न दें, व्यापार में या साहस में सँभाल न रखो, चौकसी, सावधानी न रखो, बुद्धि-होशियारी का उपयोग न करो, संजोगों को ध्यान में लेकर उसके पीछे जागृति से परिश्रम न करो तो मात्र पधरावनी, उपस्थिति या जैसे आत्मा के आशीर्वाद से ही कामयाबी नहीं प्राप्त होगी। फिर भी आशीर्वाद तो शुभ निष्ठा में, हमारे शुभ प्रयास में हैं, हैं और हैं ही। ऐसे आशीर्वाद के साथ साथ जैसे आशीर्वाद के अनुरूप वर्तन हमें रखना चाहिए। इसी अर्थ में “दूसरी जरूरी शर्तें पूरी करनी पड़ेगी।” — ऐसा ऊपर कहा है।

हमने ऐसे मुक्तात्मा के साथ संबंध जोड़ा हो और उनके स्वजन हो गये हों, तब वह हमारे प्यारे स्वजन के अधिकार से नहीं, किन्तु प्रेम की निशानी के रूप में, हमारा भाव ऐसा है उसके प्रतीक के रूप में प्रेम से उत्पन्न होती नैसर्गिक इच्छाओं से ऐसे महात्मा की उपस्थिति जैसे विशिष्ट प्रसंगों पर हम चाहे और प्रार्थना करें, वह बिलकुल योग्य है और आवकार्य है। ऐसी इच्छा किसी संजोगों में पूर्ण न हो सकी तो हमारे मन को उससे दुःख नहीं होगा, नाराजगी नहीं होगी, अकुलाहट नहीं होगी, अप्रसन्नता नहीं जन्मेगी, भाव में अभाव नहीं उत्पन्न हो, उस प्रकार की हमारी





मनःस्थिति होनी चाहिए। अभाव उत्पन्न हो तो भाव की उतनी न्यूनता समझनी चाहिए।

जो लोग अकेले आशीर्वाद से ही सब अपना सुरक्षित रखना चाहते होंगे, वे अंत में किसी वक्त निराश ही होंगे। आशीर्वाद के साथ-साथ ऐसे आशीर्वाद को योग्यता में परिवर्तित करने के लिए पुरुषार्थ और जागृति चाहिए ही। मात्र उपस्थिति से ही अपना सब सुरक्षित कर लेने का और लाभ प्राप्त करने का जो लोग सोचते होंगे, वे धोखे में रहेंगे। जैसा और जितना बोओगे, वैसा और उतना काटोगे। बिना परिश्रम किये, बिना जागृति रखे कुछ प्राप्त नहीं कर सकोगे।

पूज्यश्री यह बात स्पष्ट रूप से कह देते थे और इसी कारण से सामनेवाले को कई बार अप्रिय भी लगते। फिर भी वे मात्र आशीर्वाद पर आधार रखकर बैठे न रहे उसकी स्पष्ट चेतावनी देते थे। उनको सिर्फ अपने पूजन की चाह नहीं थी। हम कुछ संगीन ऐसा प्राप्त करें और जीवन का विकास हो, उस ओर उनका लक्ष्य रहता था।



## १०. आश्रमों का अस्तित्व—अहम् को पिघलाने के लिए

नडियाद तालुका के तमाकू के एक व्यापारी को चुनाव लड़ने की इच्छा हुई। चुनाव में जनसंपर्क करना जरूरी। इससे नडियाद आश्रम, बिलोदरा गाँव में स्थापित होने से बिलोदरा के मत के लिए आये थे। वहाँ से आश्रम पर भी आये। आश्रम शुरू होने के दो-तीन साल के बाद की वह घटना। तब उन्हें ऐसा लगा था कि यह साधु यहाँ आश्रम बनाकर रह रहा है तो लोगों पर थोड़ी बहुत असर तो होगी। उनका उस वक्त का हेतु सिर्फ मत के लिए था। साधुओं की तरफ कोई आदरभाव मन में नहीं था। श्रीमोटा के चरणस्पर्श कई लोग करते वह उन्होंने देखा। इससे उन्हें ऐसा भी हुआ कि लोग क्या देखकर इस व्यक्ति के चरणस्पर्श करते हैं! इस प्रसंग के बाद तीन वर्ष तक वे नहीं आये थे। फिर एक मित्र के मुख से श्रीमोटा की प्रशंसा सुनी। बारबार सुनी। इस कारण से उन्हें आश्रम पर आने का प्रलोभन पैदा हुआ। आये भी सही। उन्हें बहुत पसंद भी आया। श्रीमोटा के प्रति राग भी हुआ। फिर तो बारबार आने लगे, इतना ही नहीं, किन्तु घर में से बहनों को भी आश्रम में लाने लगे। उनके पास अपनी स्वयं की कार। इससे साधन की सरलता थी। इससे बारबार आने का हुआ।

पूज्य श्रीमोटा उन्हें कोई उपदेश न दे। उनके व्यापार की बातों में दिलचस्पी ले। वे शुरू करे और पूज्यश्री उसमें साथ देवे। राजकारण की बातें भी होने दे। कुछ भी उपदेश न मिलते हुए भी उस भाई की अपनी प्रकृति में बड़ा बदलाव आता गया। उनको स्वयं भी इसका अनुभव हुआ। उनमें समयपालन करने का उत्साह जागा। अन्य किसी को किसी बाबत में वचन दिया हो तो उस अनुसार पालन करने की लालच उत्पन्न होने लगी। आश्रम में आना शुरू किया उसके पहले उनके स्वभाव की खासियतों में एक ऐसी थी कि बहनों के साथ घर में ऊब जाये, गुस्से हो जाय। उनकी चाहना अनुसार थोड़ा भी न हो तो एकदम चिढ़ जाय, भारी क्रोध करे। यह वहाँ तक की वस्तुएँ भी फेंक देवे। आश्रम में बारबार आने से इन सब बाबतों में परिवर्तन आना शुरू हुआ। ऐसी अनेक प्रकार की छोटी बड़ी प्रकृति की पकड़ ढीली होने लगी। अपनी कमिओं की कुछ सभानता पैदा हुई। इससे उन्हें श्रीमोटा के पास आने में रस आने लगा। वैसे तो उन्हें दूसरी कोई भी अपेक्षा श्रीमोटा के पास से नहीं है। उन्हें प्रभु ने अच्छा ऐश्वर्य दिया है। बगीचा, बंगला, व्यापार, पत्नी, संतान, वाहन, कीर्ति, स्वास्थ्य



इत्यादि सभी सांसारिक सुख की वस्तुएँ भी प्रभु ने उन्हें दी हैं। उन्हें पूज्य श्रीमोटा के पास आकर किसी भी प्रकार की सांसारिक इच्छाएँ पूरी करना नहीं है, ऐसी उसकी स्थिति है। **एकमात्र अभिलाषा जीवन को ऊँचे ले जाने की है, जीवनविकास करने की है, प्रभुमय जीवन का रस प्राप्त करने की है। ऐसी उनकी मुरादें बहुत यथायोग्य और सच्चे प्रकार की हैं। ऐसे उच्च हेतु से मुक्त की संगति ढूँढ़नेवाले बहुत अल्प होते हैं।**

इस भाई को श्रीमोटा की संगति से इतना तो आनंद पैदा होने लगा कि अमुक दिनों में तो दिन में दो-दो बार और तीन-तीन बार भी खास चाहकर आने लगे। व्यापार मन से थोड़ा हटाकर के भी आने लगे। अलबत्ता, वे अपनी कार में आते, किन्तु उनकी इज्जत, दर्जा और समाज में प्रतिष्ठा इतनी थी कि ऐसी प्रतिष्ठित अग्रस्थान की व्यक्ति के लिए ऐसी लगन और “बावलापन” में गीना जाय उस प्रकार का आकर्षण होना और फिर उसे प्रत्यक्ष वर्तन में आचरण करके दिखाना वह कोई मामूली बात नहीं है।

पाटीदार समाज में मर्दों के हिस्से में कभी भी गृहकार्य करने का नहीं आता है। कपड़े धोने, जूठे बरतन साफ करना इत्यादि काम पुरुष नहीं करते हैं। उनके समाज में ऐसा काम पुरुष के लिए लांछनभरा भी माना जाता है। ऐसा होते हुए भी इस इज्जतदार पाटीदार भाई ने आश्रम में प्रत्यक्ष सक्रियता के साथ सब के जूठे बरतन माँजने में भी साथ और सहकार देना शुरू किया। एक दिन उनकी पत्नी, बहन इत्यादि घर की महिलाएँ भी आश्रम में भोजन में साथ थी। उनकी उपस्थिति में सबके साथ उन्होंने जूठे बरतन माँजना शुरू किया। पति-पत्नी दोनों साथ में माँजते थे। यह सुभग दृश्य सच में ही रोमांचक और अह्लादक था। यह देखकर मुझे विचार स्फुरित हुआ कि ऐसे आश्रमों का अस्तित्व ऐसे लक्ष्मीसंपन्न, तानाशाह, एकहत्थे से शासन चलानेवाले और उद्दाम व्यक्तियों के अहम् को पिचलाने का एक उत्तम और अचूक साधन है, जहाँ सब समान होकर साथ में भोजन लेते हैं और आश्रम के छोटेमोटे कार्यों में सब अपना हिस्सा देते हैं। ऐसे कार्य में हिस्सा देना यानी अपने अहम् को स्वेच्छा से तोड़ने की क्रिया शुरू करना। ईश्वर की दृष्टि में कोई उच्च नहीं, कोई नीच नहीं है। संपत्ति, सरस्वती, कीर्ति इत्यादि किसी को मिले हो तो उससे वह ऊँचा नहीं बन सकता। यदि वह सब जिसे मिला न हो, उससे वह व्यक्ति नीच नहीं बन जाता। अपने घर पर एक आवाज में पाँच नौकर तुरंत चाहे आ जाते हो, किन्तु ऐसे आश्रम में सेठ स्वयं ही आश्रम के—आश्रम के अधिष्ठाता के—दास बनकर रहने





का प्रयास करते हैं, नम्रता विकसित करने का शुभ प्रयास आरंभ करते हैं। हाथी के सिर पर भी प्रभु ने अंकुश के दबाव को इष्ट और आवश्यक माना है। महान सम्राटों के सिर भी एक समय में उनके गुरु-कुलगुरु के चरणों में झुकते थे और उस कुलगुरु के वचनों का सहर्ष स्वीकार करके सम्राट अमल करते। दशरथ राजा ने उसी प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण को गुरु वशिष्ठ के अनुमति के वचन से ही विश्वामित्र की माँग स्वीकार करके कोमल आयु में अपने प्रिय दो बालकों को जंगल में उनके साथ रहने के लिए भेजे थे। किसी को भी जवाब उसे देना पड़ेगा ऐसी जागृति मनुष्य को बहुत सहायक होती है। चाहे वह Conditional सशर्त जागृति मानी जाती हो, किन्तु ऐसी सशर्त जागृति में से बिना शर्त की स्वैच्छिक जागृति मिलनेवाली है। **नम्रता, आज्ञांकितता, विनय, विवेक इत्यादि सत्त्वगुण विकसित करने के लिए ऐसे आश्रम एक प्रकार की आवश्यक भूमिका पूरी करते हैं। इस प्रकार और ऐसी समझ से मनुष्य को ऐसे आश्रमों की सेवा करनी चाहिए। धन, विद्या और कीर्ति से होनेवाली सेवा भी जरूरी है, उससे इनकार करने का प्रश्न ही नहीं है, किन्तु इन सब से भी सर्वोपरि सेवा स्वाश्रय से होती सेवा है।**

धन, विद्या और कीर्ति से होती सेवा में व्यक्ति को स्वयं को कुछ त्यागना नहीं पड़ता है, जबकि शरीरश्रम से होनेवाली सेवा में स्वयं में से कुछ देना होता है। स्वयं में से स्वयं को दिया जाता है। अपने मन से जिसका ज्यादा से ज्यादा मूल्य हो और जो कठिन है, वही वस्तु दी जाती और होती है। बहुत बड़े श्रीमंत, विद्वान और प्रतिष्ठित सज्जनों को ऐसी शरीरश्रम से करनेवाली सेवा करने का बहुत कठिन लगता है और सच में ही उनके लिए वह मुश्किल होता है। ऐसे आश्रम ऐसी व्यक्तियों को इस प्रकार की तालीम के लिए आवश्यक केन्द्र के रूप में आवश्यक हैं। ऐसी तालीम वहीं के वहीं रखकर न जाते हुए वह संस्कार अपने वातावरण में अपने घर पर भी उस प्रकार के वर्तन को पैदा करे वह भी उसकी एक फलश्रुति है। अधिकारभेद और परिस्थितिभेद के कारण अपने घर पर चाहे वैसी व्यक्ति आश्रम की तरह आचरण करने में एकरूप न हो सकती हो, फिर भी भावना से, मन से और हृदय से हृदय में तो ऐसी व्यक्ति अपने संपर्क में आते सभी व्यक्ति साथ हृदय में हृदय से अभेद और समानता का अनुभव करते होंगे और अनुभव करेंगे। यह है ऐसे पवित्र स्थल की महत्ता और प्रताप।

इसी प्रकार से सूरत आश्रम में भी बहुत सेवाभावी भाइयों ने अपनी शर्म, संकोच और लज्जा इत्यादि का त्याग करके स्वाश्रय से बरतन माँजने में, कचरा साफ करने में, रसोई करने में, राज का काम और मजदूरी का





काम करने में सेवा दी है। उन व्यक्तियों ने कभी भी अपने घर पर इसमें से कुछ ना किया हो, उलटा हुक्म ही किया होगा। इस प्रकार पूज्य श्रीमोटा के संपर्क से और उनमें से निकले हुए आश्रमों के अस्तित्व से अनेक सेवाभावी जिज्ञासु और श्रेयार्थी भाईबहनों ने अपना-अपना जीवनविकास इस प्रकार मौनरूप से प्राप्त कर रहे हैं।





## ११. मंत्रशक्ति का प्रताप

विश्व में अनेक प्रकार की घटनाएँ बनती हैं। कई घटनाओं का हम रहस्य प्राप्त कर सकते हैं। विज्ञान के विकास के साथ-साथ उस बारे में संभावनाएँ बढ़ गई हैं, किन्तु अभी भी कई विस्मयकारक घटनाएँ ऐसी बनती हैं कि जिसकी हमारी वैज्ञानिक दृष्टि भी समाधान नहीं कर सकती है। हमारी बुद्धि से यह समझना दुष्कर है। उसके रहस्य को हम जान नहीं सकते हैं। ऐसी घटनाओं को हम चमत्कार का नाम देते हैं, किन्तु हम समझने और देखने की शक्ति विकसित करें, तो उसके हेतु का रहस्य और उसकी यथार्थता को हम जरूर समझ सकेंगे।

ऐसी ही एक घटना—स्वयं चौकसाई करके अनुभव की हुई घटना—का यहाँ निरूपण करता हूँ।

पूना से पंदरह मील और दो फर्लांग दूर महाबलेश्वर-बेंगलोर के रास्ते में दाहिने हाथ पर मुड़ते हुए रास्ते से दो-एक फर्लांग दूर औलिया हजरत कमरअली दरवेश की दरगाह आती है। उस जगह पर शिवपुर नाम का एक छोटा गाँव है। पूना से महाबलेश्वर जानेवाले को इस रास्ते से जाना होता है। इस दरगाह के दर्शन करने सभी कौम के भाविकजन आते हैं।

“कमरअली दरवेश” एक औलिया फकीर थे। कहा जाता है कि शिवाजी महाराज के समय में इस गाँव में आकर वे बस गये थे। वे अपनी संकल्पशक्ति से असाध्य मानी जाती बीमारियों को भी ठीक कर देते थे। उस प्रकार दीन, हीन, दुःखी, दलित जनों के दुःखों को दूर करते थे।

इस दरगाह में दो चमत्कारिक पत्थर हैं, यह बात सब से पहले मैंने कोलंबो के मेरे एक मित्र द्वारा जानी थी। ऐसे तो बहुत गप सुनने में आते हैं। इससे शुरूआत में तो मुझे इस बाबत में कुछ भी यथार्थता होगी ऐसा नहीं लगता था।

१९५७ की साल के सितम्बर महीने में एक बार मुझे मद्रास (चेन्नई) से मुंबई जाते हुए काम के लिए पूना उतरना पड़ा। उस प्रसंग पर इस दरगाह की सादृश्य मुलाकात लेने की मेरी इच्छा पूरी हुई। सितम्बर की १९ तारीख और मंगलवार को मैं और मेरे यजमान सुबह नौ बजे उस स्थल पर टेकसी में पहुँचे। दरगाह में दाखिल होते ही सामने दो बड़े गोल पत्थर पड़े हुए देखे। पहले से जानता था कि ये पत्थर “कमरअली दरवेश” इस नाम का मंत्रोच्चार करते हुए सिर्फ उँगली से छुने से ऊँचे होते हैं। यह सुना था, तब



तो सचमुच वह एक भारी अजूबे जैसी बात जैसा लगा था।

दोनों पत्थर अलग-अलग माप के और अलग-अलग वजन के थे। बड़ा गोल पत्थर अंदाजन पंद्रह इंच ऊँचा और ५०(50)इंच परिधिवाला अंदाज़न् २४० रतल यानी कि कच्चे साढ़े पाँच मन जितना लगा। छोटा गोल पत्थर अंदाज़न् ग्यारह इंच ऊँचा और चुवालीश इंच की परिधिवाला एवम् वजन में अंदाज़न् १६० रतल यानी कच्चे चार मन जितना लगा।

बड़े पत्थर को ग्यारह व्यक्ति ने और छोटे पत्थर को नौ व्यक्ति ने उँगली से छुने का था। छोटे पत्थर को पहले हमने उठाकर देखने का प्रयास किया। मेरे सशक्त युवान यजमान ने प्रयास किया, किन्तु उठा सके नहीं। फिर हम नौ जनों ने नीचे झुककर एकएक उँगली बिलकुल तले पर लगाकर सब ने एकसाथ “कमरअली ....द....र....वे....श....” ऐसा दीर्घ मंत्रोच्चार किया। आखिर शब्द दरवेश हम हरएक अक्षर को अलग-अलग करके लंबे करके द....र....वे....श.... श्वास को घूंटकर एकसाथ बोले कि तुरंत हमारे आश्चर्य के बीच वह पत्थर अपनेआप ऊपर उठा और हमारे सीने तक ऊँचे उठ गया और पत्थर नीचे गिरा। फिर से वही प्रयास किया। फिर से भी उसी प्रकार पत्थर उठा।

हमने “हरिःॐ” यह मंत्रोच्चार करके उसी प्रकार पत्थर को ऊँचे उठाने का प्रयास किया, किन्तु उस मंत्रोच्चार से पत्थर जरा भी हिला नहीं। सिर्फ “कमरअली दरवेश” के नाम के मंत्रोच्चार से ही पत्थर ऊँचा उठता है उसका सबूत मिला। सात पुरुष और दो बहनों मिलकर नौ व्यक्ति होकर ऊँचा उठाने का प्रयास किया। “कमरअली दरवेश” का मंत्रोच्चार किया फिर भी पत्थर ऊँचा नहीं उठा। इस प्रकार उठानेवाले व्यक्ति पुरुष ही होना चाहिए यह साबित हुआ। उन पुरुषों में छोटी उम्र के लड़के हो तो वह चलेगा ऐसी माहिती हमें मिली थी और प्रयोग करने पर वह यथार्थ मालूम हुआ। दरगाह के कम्पाउन्ड में बहनें प्रवेश कर सकती हैं सही, किन्तु दरवेश की दरगाह के पास जाने की उन्हें मनाई है। यह दोनों पत्थर दरगाह के कम्पाउन्ड में ही होने से बहनों को हमारे साथ रखकर ऊँचा उठाने का प्रयोग संभव हुआ।

आठ व्यक्तिओं ने उँगली लगाकर “कमरअली दरवेश” का मंत्रोच्चार किया तो भी पत्थर ऊँचा न उठा। नौ की ही संख्या चाहिए। हम सब मिलकर पाँच जने थे। उन पाँच जनों में लड़कों का समावेश हो जाता था।





“कमरअली दरवेश” ऐसा श्वास घूट कर एकसाथ बोलकर श्वास ज्यादा वक्त रोककर, पत्थर को जल्दी से उँगलियों के सहारे ऊँचे ले जाने की श्वास छूटे उसके पहले यानी कि “दरवेश” शब्द पूरा हो उसके पहले जितना ज्यादा ऊँचे ले जावे उतना वह ऊँचा उठता है। हम हमारे सीने तक यानी कि चार फूट ऊँचे ले जा सके थे। फिर भी एक वस्तु चौकस कि श्वास ज्यादा वक्त तक रोक कर अभी भी ज्यादा ऊँचा वह पत्थर उठा सकते हैं जरूर और वह भी हलके फूल के समान दोनों पत्थर इतने ही हलके प्रकार से ऊँचे उठा सके। सब को सिर्फ एकएक उँगलि लगाकर रखना है और वह भी सिर्फ नाम के लिए ही। यहाँ जो इलम-चमत्कार है वह तो “कमरअली दरवेश” नाम के मंत्रोच्चार का। पत्थर अपनेआप ही नामोच्चार के साथ ऊँचा उठता है। उँगलियाँ तो मात्र निमित्त रूप से नाम के आधाररूप से लगाई जाती हैं। दूसरा गोल पत्थर है, उसे इसी ही प्रकार से ग्यारह पुरुषों ने उँगली से छूने पर उसी प्रकार से ऊँचा उठा था। यह प्रयोग हमने पाँच से छ बार किया था और हरबार पत्थर ऊँचा उठा था।

निर्धारित संख्या के पुरुषों में से भी यदि एक-दो पुरुष भी “कमरअली दरवेश” का दीर्घ उच्चार करके ना बोले तो पत्थर ऊँचा उठता नहीं है। सब को एकसाथ ही लंबा उच्चार करना चाहिए ऐसी उसकी आवश्यक शर्त है।

एक दूसरी लाक्षणिकता भी देखने को मिली। जिसका श्वास जल्दी खत्म हो जाय यानी की जिसका मंत्रोच्चार जल्दी बोलने में बंद हो जाय, उसके पास जोर से पत्थर गिरता है। इन सब प्रयासों से एक निर्णय पर स्वाभाविक आ सकते हैं कि यदि सब व्यक्ति लंबे समय तक श्वास को रोककर मंत्रोच्चार करे तो पत्थर को सिर तक ऊँचा ले जा सकते हैं सही।

चैत्र शुक्ल पूर्णिमा के अरसे में मुस्लिम कलेन्डर अनुसार “सवात” महीने की बारहवीं तारीख को वार्षिक बड़ा मेला (ऊर्स) इस दरगाह के पास आयोजित होता है और हजारों स्त्री-पुरुष तब वहाँ इकट्ठे होते हैं। यह इस स्थल की महिमा है।

इस घटना के अनुभव के बाद स्वाभाविक रीति से ही ऐसा लगा कि श्रीकृष्ण भगवान ने गोवर्धन पर्वत अपनी छोटी उँगलि से ऊँचा उठाया था और अपने साथ दूसरे गोपालभाइयों को भी लकड़ी से सहारा देने का कहा था। यह कृष्णजीवन की घटना का धार्मिक और आध्यात्मिक रहस्य समझने में इस दरगाह के पत्थरों की घटना मार्गदर्शक हो सकती है। कुछ धुंधला प्रकाश भी डाल सकता है।





इस औलिया की मृत्यु को अंदाज़न् तीन सौ वर्ष हो जाने पर भी उसके नाम के मंत्रोच्चार में ऐसी और इतनी अद्भुत शक्ति है, उसका भान होते ही सिर सहर्ष झुक जाता है।



## १२. बाजार में अर्धनग्न शरीर से

आज से कई वर्ष पूर्व ई. स. १९३८ में पूज्य श्रीमोटा ईद के दिन साँईबाबा के हुकम से बिलकुल नग्न अवस्था में कराची में तथा अन्य पाँच से सात शहरों में खुली बाजार में और बस्तीवाले मोहल्लों में चले थे और घूमे थे, वह घटना अब तो सब कोई जानते हैं। पूज्य श्रीमोटा ने अपनी कलम से उसका वर्णन साधकों को लिखे हुए खतों में किया है, जो पुस्तक रूप में प्रकट हुए हैं। उस घटना के साक्षी भी थे। उन्होंने अपनी आँखों से यह देखा था।

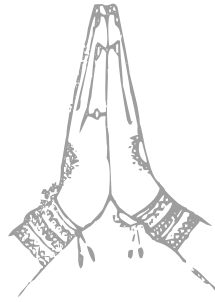
लगभग उसी प्रकार की घटना का तेइस वर्ष बाद मुझे भी अनुभव हुआ था। बिलकुल नग्न नहीं, किन्तु नब्बे प्रतिशत नग्न। कुंभकोणम् आश्रम में एक सुबह साढ़े आठ बजे के समय पर पूज्य श्रीमोटा श्री हसमुखभाई का इंतजार कर रहे थे। पहले से निश्चित किये हुए कार्यक्रम के अनुसार उनके साथ कार में एक जगह जानेवाले थे। साढ़े आठ बज गये। हसमुखभाई को कुछ देर हो गई, इससे पूज्य श्रीमोटा तो आश्रम में से निकले। उनके मन में होगा कि हसमुखभाई सामने आते ही होंगे न! आश्रम के फाटक पर इंतजार करूँगा। उन्होंने सिर पर सफेद गांधी टोपी, पग में चप्पल और कमर में लंगोट। पूरे शरीर को ध्यान में रखे तो सिर पर, मध्य में और तलुवे में तीन वस्तु—टोपी, लंगोट और चप्पल पहने थे। बाकी पूरा शरीर एकदम खुला। देखने जैसा वेश ! आश्रम के आगे दरवाजे के पास ही एक पोल—मोहल्ला। अग्रहार पोल उसका नाम। उन्होंने सोचा था कि अग्रहार पोल में सामने ही कार मिल जाएगी। कार तो दिखाई नहीं दी और आपश्री तो आगे और आगे चलने लगे। ऐसे चलते-चलते बिलकुल पीढ़ी के मकान तक ऐसे वेश में आ पहुँचे। पूरी डेढ़-पौने दो मील की दूरी और रास्ते में भीड़भरी बस्ती और बड़े बाजार। हसमुखभाई अचानक आ गये। दूसरे आवश्यक कार्य में फँस गये थे, इससे निकल नहीं सके थे। वे आये तब हसमुखभाई ने उनका लगभग नग्न वेश देखा। उनको खास आश्चर्य तो नहीं हुआ, क्योंकि ऐसे कई अनुभव पहले उन्हें हुए थे। हसमुखभाई ने कार बुलवा मँगवाई और पूज्यश्री को कार में आश्रम पहुँचाये।

एक बार हरि छोटा था, तब खिलौने की लकड़ी की हाथगाड़ी की



रस्सी खींचते-खींचते खुले बाजार के बीच में से होकर पीढ़ी पर गये थे, इतना ही नहीं, किन्तु खुले बाजार के बीच में हरि ने उनको घोड़ा बनाकर बैठने की जिद पकड़ने पर घोड़ा भी बने थे। एक बार सत्संग में अपने स्वमुख से जब यह घोड़ा बनने का प्रसंग कहा, तब एक भक्त अध्यापक मित्र ने उनको कहा, “**मोट्टा**, इंग्लैंड के एक समय के प्रधानमंत्री ग्लेडस्टन जब प्रधानमंत्री थे, तब अपने बालक को लेकर बगीचे में घूमे थे ऐसा प्रसंग आता है। **मोट्टा** ने तब तुरंत एक बुजुर्ग मित्र का नाम देकर कहा, “देखिये साहब, सुनिए। यह नितान्त कल्पित बात नहीं है। सिर्फ Probability नहीं—संभावना नहीं, Reality है—वास्तविकता है। वात्सल्यप्रेम लोकलाज की परवाह नहीं करता है। मैं कुछ गलत नहीं कहता था।”

इस प्रकार मुक्त पुरुष के वर्तन समझना दुर्गम है। उनकी विशेषता पहचानना सरल नहीं है। वे सबकी परवाह करते और फिर किसी की परवाह नहीं करते। कोई ऐसा कहेंगे या वैसा कहेंगे ऐसे कानून-नियम उन्हें नहीं हैं। उसे हम शायद “लीला” ही कह सकते हैं।



## १३. साधक और गुरु की स्थूल निकटता

साधक को अपनी साधना के लिए किसी न किसी मार्गदर्शक की आवश्यकता रहती है। इसमें से गुरुप्रथा का जन्म हुआ, किन्तु आध्यात्मिक साधना में गुरुशिष्य का संबंध विशिष्ट प्रकार का है। शिष्य गुरु के प्रति अत्यंत भावात्मक हो और प्रेमादर रखता हो तो ही गुरु की चेतना साधक को उसके विकास में मददरूप होगी। वह संपूर्णरूप से विधेयात्मक बने वह जरूरी है। एक बार सद्गुरु के रूप में किसी का भी स्वीकार किया, तब ऐसा करना वह स्वाभाविक है, किन्तु जब साधक और गुरु की स्थूल निकटता बढ़ती जाय, तब ही मुश्किल पैदा होती है। इस स्थूल निकटता के कारण अनेक छोटे-बड़े प्रसंगों को बारीकाई से अवलोकन करने का साधक को होता है। उस वक्त जाने-अनजाने में गुरु के वर्तन का मूल्यांकन हो जाय, वह स्वाभाविक है। किन्तु उस वक्त यदि साधक सभान न हो तो उसके लिए खतरा है। वह अपने स्वीकार किये हुए नियम से गुरु के वर्तन का मूल्यांकन करने जाएगा तो उसमें खतरा है। उस बारे में एक मजबूत उदाहरण का अनुभव हुआ, वह यहाँ प्रस्तुत है।

एक उत्साही युवान को आध्यात्मिक मार्ग पर प्रयाण करने की अदम्य आतुरता जागी। उस मार्ग के प्रति आकर्षण और भाव दिनप्रतिदिन वृद्धि पाने लगे। आध्यात्मिक संतपुरुषों के आश्रम पर उन्होंने आना-जाना शुरू कर दिया। किसी एक गुरु के प्रति श्रद्धा जागी और अपने मार्गदर्शक के रूप में मन ही मन में स्वीकार किया। उनके प्रति स्नेह हुआ और संसार छोड़ने की प्रबल इच्छा पैदा हुई।

उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी और मजबूत थी। ठीक-ठीक प्रमाण में साधनसंपन्न कह सकते हैं। इसलिए उस भाई का पालन-पोषण सुखचैन और ऐशोआराम में हुआ था। जीवन का सुखदुःख न देखा था, न अनुभव किया था। पत्नी भी सुशिक्षित और संस्कारी थी। माँबाप भी बहुत संस्कारी और स्नेहमय थे। वे मातापिता की एकमात्र संतान थे। व्यापार भी सुंदर रीति से चल रहा था। किसी भी प्रकार का अभाव हो ऐसा नहीं लगता था। सांसारिक दृष्टि से सब प्रकार से सुखी थे। निराश होने की एक भी घटना नहीं थी। वह जीव किसी सद्भागी और पूर्वजन्म का त्यागी होना चाहिए। इससे साधुता के मार्ग पर जाने की उनकी इच्छा हुई। वो तो कूद पड़े और



संसार छोड़ दिया। गुरु की निकटता ज्यादा और ज्यादा मिलने लगी। गुरु की अत्यंत प्रशंसा हृदय में होने लगी। गुरु की प्रशंसा, गुरु के प्रति का आदरभाव-प्रेमभाव जाहिर करने लगे। गुरु के चरणों में अपना जो कुछ स्थूल था, वह उन्होंने रख दिया। ऐसा करके अपने जीवन की धन्यता का अनुभव किया। दिन बितने लगे। महीने बिते। दो-तीन वर्ष भी बित गये। फिर उनके मन में गुरु के बाह्यवर्तन के कारण शंकाएँ उठने लगी। पहले जहाँ अनन्य शरणभाव और अप्रतिम शरणागति थी और उस बारे में अपनी सभानता थी, ऐसी स्थिति में परिवर्तन आया। शंका डायन दिखाई दी और वह उन्हें परेशान करने लगी।

गुरु की समीपता वे हजम न कर सके। दोष दिखने लगे। गुरु की वाणी और वर्तन में भेद दिखना शुरू हुआ। गुरु की निष्ठा में (सिनसिआरिटी में) एक प्रकार की न्यूनता दिखने लगी। “गुरु ऐशआराम से रहते हैं। भोग, शौक और ऐश्वर्य के वातावरण से घिरे हुए हैं। केवल वाणी से प्रभावित करते हैं। ईश्वर के दर्शन उन्हें नहीं हुए हैं। “ऐसे-ऐसे तरंग उनके मन में उठने लगे। अन्य के सामने इस प्रकार के टीकायुक्त वचन भी अब उनसे अनायास उच्चारण हो जाने लगे। स्वयं भी एक द्विधायुक्त परिस्थिति में फँस गये। बहुत लंबे समय तक ऐसी परिस्थिति चालू रही।

यह सब जब सादृश्य देखने और अनुभव करने को मिला, तब स्वाभाविक प्रश्न उठा कि साधक को ऐसा क्यों हुआ होगा? उस साधक के मन में शंकाएँ (Doubts) क्यों पैदा हुई होंगी? पहली अवस्था में जहाँ अनन्य शरणागति थी, वहाँ इस नकारात्मक मनोवृत्ति क्यों दिखाई दी? एक प्रकार का मानसिक विद्रोह उसने क्यों शुरू किया? इन सब प्रश्नों के जवाब में अमुक प्रकार के निर्णय पर आये बिना नहीं रह सकेंगे और वह यह कि अधिकार के बिना अनायास चाहे जैसी अच्छी वस्तु प्राप्त हो, किन्तु उसे हजम या सहन करना सरल नहीं है। यह एक कठिन कार्य है। एक भक्तकवि का अत्यंत ही प्रसिद्ध भजन है, जिसकी ध्रुव पंक्ति है, “उत्तम वस्तु अधिकार बिना मिले तो भी अर्थ न निकले।” इस साधकमित्र के इस प्रकार के हुए मानसिक परिवर्तन से यह पंक्ति स्मरण में आये बिना नहीं रहती है।

उस भाई ने साधना में Head Long कूद पड़ने के पहले उनके मन में गुरु के बारे में जो ख्याल था कि गुरु यानी ऐसे और वैसे होना चाहिए, वह उन्हें बाधारूप बना। “गुरु का बर्ताव वैसा होना चाहिए” ऐसा उन्होंने मन







में विचार कर रखा होना चाहिए। इस विचार ने उनके लिए मुश्किल खड़ी कर दी और विकास रोक दिया।

उन्होंने अपने मानसिक चौकटें इतने सख्त कर रखे थे कि उसमें कुछ फीट (Fit) न हुआ तो उनकी श्रद्धा टूट गई। उनकी भक्ति देखादेखी की थी, ऐसा तो नहीं कह सकते। भक्ति थी जरूर, किन्तु बिना ज्ञान की। पूर्वजन्म की संस्कारगत भक्ति थी। किन्तु उस भक्ति में चालू वर्तमान देशकाल की असर की परतें सख्त रूप से जम गई थी। अर्वाचीन शिक्षा की भारी असर उन पर थी। और उससे जो मूल्यांकन करने की ढीली आदत पड़ी हुई थी, उस पर विजय न प्राप्त किया जा सका। फिर, आध्यात्मिकता और गुरु के बारे में चौकस दृढ़ ख्यालों के साथ वे जुड़े थे। यद्यपि उसका भी एतराज नहीं था। यदि उन्होंने भक्ति के साथ ज्ञान विकसित करने का प्रयत्न किया होता तो तो ऐसी भारी पराजय का अनुभव न होता। ऐसा ज्ञान विकसित करने में अन्य मुक्त पुरुषों के आंतरिक जीवन में दृष्टि करने का प्रयास उन्हें करना चाहिए था। ऐसे मुक्तों के सामीप्य को पहचाननेवालों के पास से समझने का प्रयास किया होता तो उनके मानस में सूक्ष्मरूप से समझ पनप सकी होती और उससे अपने पक्के सोचे हुए ख्यालों में परिवर्तन ला सके होते। आध्यात्मिक साहित्य के अभ्यास का व्यासंग विकसित किया होता तो भी वह उनकी ऐसी समझ पैदा करने में कुछ अंश में उपयोगी हो सकता था। किन्तु इसमें से कुछ नहीं हुआ और भक्ति की लहर पीछे हटने लगी और दूर जाने की तैयारी में आ गई। कैसी कमनसीब और करुण घटना! सब छोड़ा - माता, पिता, पत्नी, वैभव, ऐश्वर्य, व्यापार, मित्र, शरीर के सगे-संबंधी, किन्तु न छोड़े मानसिक बंधन, मानसिक स्वजन, मानसिक वचन, मानसिक सगे-संबंधी। इस प्रकार के व्यक्ति की मानसिक परिस्थिति का हूबहू चित्र दिखाते हुए पूज्य श्रीमोटा ने लिखा है, "जीवन की साधना में मनुष्य को अनेक प्रकार के द्वंद्वों के साथ सतत जाग्रत चेतना सह युद्ध देना ही पड़ता है। उसमें माने हुए मंतव्य, समझ, आदतें, आग्रह, अभिप्राय, पसंद और नापसंद, रुचि और अरुचि, एवम् प्राण की अनेक प्रकार की कामनाएँ, लालसाएँ, वासनाएँ और पड़े हुए संस्कार यह सब भी मानवी के हृदय में जीवित रहे हुए स्वजनों के समान ही हैं। ऐसे स्वजनों का संहार करने के लिए मानवी का मन तैयार नहीं होता है।"

(‘जीवनसंग्राम’ पृष्ठ २७)।

इस प्रकार यह भाई अपनी मान्यतारूपी मानसिक स्वजनों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। स्थूल शरीर के स्वजनों का संग वे





छोड़ सकें, किन्तु इन सूक्ष्म स्वजनों के समान मंतव्य, अभिप्राय, पसंद-नापसंद नहीं छोड़ सके। परिणाम स्वरूप किये हुए गुरु का साथ छोड़ने तक तैयार हो गये। अलबत्ता, वे फिर संसार के क्षेत्र में वापस नहीं आये। किन्तु अपने मन को अपना गुरु बनाकर या मानकर अपने “हृदय की आवाज” को मान देकर चलते हैं और साधना करते हैं। इस प्रकार की साधना में वे कितनी और कैसी सफलता प्राप्त करेंगे, वह भविष्य का प्रश्न है। किन्तु एक बाबत में इस प्रसंग से अवश्य निर्णय ले सकते हैं कि शरणागति और निराग्रहीपन इस प्रकार विकसित करना अत्यंत कठिन यानी असंभव है। लगभग सबके लिए। अपवाद हो सकते हैं, किन्तु वह तो कोई दुर्लभ ही।

इस घटना से हम सब को यह समझना है कि भक्ति के साथ-साथ उसे जरूरी ऐसे ज्ञान और बौद्धिक समझ भी प्राप्त करते रहना जरूरी है।

सबकी भक्ति एकाकी, अनन्य, उग्र, सदैव और सतत रह सके ऐसा होना वह कठिन है। इससे ऐसा जो-जो कुछ देखने-जानने का मिले, वह हमें सावधान करनेवाला, हमारी आँखें खोलनेवाला होना चाहिए।



## १४. प्रभु और भक्त का ऋण

मद्रास (चेन्नाई) के एक व्यापारी ने पारद की शीशियों का व्यापार किया था। भाव गिर गये। इससे उनकी बड़ी पूँजी डूब गई। लगभग पूरी पूँजी साफ हो गई। वे दौड़ते हुए पूज्य श्रीमोटा के पास कुंभकोणम् आये। पूज्य श्रीमोटा ने उनका अत्यंत भाव के साथ सत्कार किया। उस व्यापारी भाई ने पूज्यश्री के समक्ष अपनी पूरी हकीकत पेश की। पूज्यश्री ने उनकी समस्या सुलझाने के लिए सलाह देकर अत्यंत भाव से कहा, “निश्चित रहो। भाव बढ़ेंगे और आपकी मूल स्थिति पर आप आ जायेंगे।” साथ-साथ स्पष्टतापूर्वक कहा, “जिस पल भाव उतने स्तर पर पहुँचे उसके बाद ज्यादा लोभ न रखते हुए उस वक्त सब माल बेच कर स्वच्छ और खुले हो जाना।”

पूज्य श्रीमोटा ने जब यह सलाह दी थी, उस समय बाजार के वातावरण में पारद के भाव ऊपर उठने की कोई आशा नहीं थी। यह घटना हुई थी ई.स. १९५०-“५१ दरमियान। प्रभु का करना और श्रीमोटा की वाणी सत्य हुई और भाव बढ़े। उस व्यापारी भाई ने उस सलाह के अनुसार वर्तन किया और पूर्व स्थिति पर आ गये। पूज्यश्री ने उन्हें दी हुई हिम्मत और वचन सफल हुआ। इस घटना का कथन होने पर श्रीमोटा ने ऐसा कहा, “प्रभु हमारे, हमारा कभी किसी का ऋण बाकी नहीं रखता है। हर वक्त ऐसा वचन नहीं भी दिया जा सके, किन्तु जिसकी रोटी पेट में पड़ी हो, उसका ऋण मेरा प्यारा कोई न कोई प्रकार से चुका ही देता है। सब चातुरी उसकी है। हमारा कुछ नहीं है। हम मुफ्त का कुछ लेते नहीं हैं। लेते हैं वह भी लोगों के उपयोग के लिए। अपने स्वयं के उपयोग के लिए तो हमें किसी की जरूरत नहीं है। लोगों के जीवन सद्भावना में किस प्रकार उन्नत हो वैसी कोशिश हो सकने की सरलता के लिए स्थापित आश्रमों के लिए लेना पड़ता है और यह आश्रम दोनों को — दाता को और लेनेवाले को — परस्पर एक स्थल — Meeting Common Ground of Platform — देता है। उसके लिए लिया जाता है और वैसा लेने का भी देनेवाले के विकास के लिए — विकास प्राप्त करने का मौका होता है। उस प्रकार हम किसी का ऋण रखते नहीं हैं।”

ऐसे तो कई दृष्टांत पूज्यश्री के जीवन से अनुभव किये हैं।



## १५. मुक्त और मुखकान्ति

एक साधक ने मुझे प्रश्न पूछा, “ मुक्त के मुख पर एक प्रकार का तेज, प्रभाव, कान्ति होती है, सही न ? ” इस प्रकार के प्रश्न पहले भी दूसरों को मुख से सुनने को मिले हैं । बहुत लोगों को महान व्यक्ति को देखकर कहते सुना है, “ कैसी कान्ति चेहरे पर चमक रही है ? ” ऐसा पूज्य महात्मा गांधीजी के बारे में भी उनके भक्तों, प्रशंसकों और अनुयायियों को कहते सुना है । सामान्य जनता को भी ऐसा कहते सुना है ।

इस बारे में मेरा अभिप्राय अलग है । सामान्यरूप से तो ऐसा होता है कि अमुक व्यक्ति महान है, उस ख्याल से ही हमारी अपनी उनके प्रति की भक्ति और भाव के कारण हमें चेहरे पर तेज लगता है । अन्यथा, वास्तव में ऐसा होता नहीं है । उदाहरण के लिए महात्मा गांधी को कोई पहचानता न हो, ऐसे स्थान पर और वातावरण में रास्ते की एक ओर खड़ा रखें या बैठाये और वहाँ से अनेक नरनारी निकलेंगे तो भी किसी को उनके मुख पर कान्ति नहीं दिखेगी, वैसा ही स्व. श्रीरमण महर्षि के बारे में भी कह सकते हैं । उनकी तुलना में दूसरी दो महान व्यक्ति — स्वामी रामदास और पूज्य श्री अरविंद — को लें तो उन दोनों को देखते ही सब कोई वंदन करेंगे । उनके प्रति आकर्षित होंगे । मेरी समझ से उन दोनों का रंग शुभ्र है यही कारण है । मुखाकृति आकर्षक है । चेहरे पर एक प्रकार की चमड़ी की चमक है । श्री अरविंद को तो भव्य दाढ़ी भी है । श्री अरविंद जैसी ही मुखाकृतिवाले भव्य दाढ़ीवाले एक भाई को मैं जानता हूँ । उन्हें भी समाज में उस प्रकार प्रतिष्ठित करें तो अन्य को आकर्षित कर सकेंगे उसमें कोई शक नहीं है । फिर भी वास्तव में वे तो एक बिलकुल सामान्य संसारी जीव हैं । इस पर से सहजरूप से समझ सकते हैं कि ज्यादातर जो लोग आकर्षित होते हैं, वह तो आंतरिक गुणविकास के कारण नहीं, किन्तु बाहर के भव्य दिखावे के कारण से । ऐसे भी आकर्षक चेहरेवाले व्यक्ति मैंने देखे हैं कि जिनको देखते ही सहजरूप से किसी को वंदन करने का मन हो जाय । **उसमें फिर वैसे व्यक्ति ने भगवे वस्त्र पहने हो और उनकी प्रसिद्धि संत के रूप में या साधु भक्तजन की हो तो सब आकर्षित होंगे और चरणस्पर्श करेंगे । फिर भी उनकी आध्यात्मिक भूमिका बिलकुल पैदा नहीं हुई होती है ।** अरे ! संसार के सामान्य मनुष्य से भी हलकी कक्षा का वह व्यक्ति हो सकता है ।



जबकि दूसरी तरफ अनाकर्षक व्यक्ति ऐसे होते हैं कि जिसका आध्यात्मिक विकास बहुत उच्च भूमिका पर हुआ होता हो और मुक्त भी होते हैं।

अभी हम दो महीने पूर्व शुक्लतीर्थ के पास मंगलेश्वर (ता. जि. भरूच, गुजरात) गये थे। वहाँ मालूम हुआ कि वहाँ से तीस मील दूर रहनेवाला एक अनार्य भील काले सीसम जैसा वृद्ध बिलकुल ग्रामीण भी नहीं, किन्तु जंगल में रहनेवाला जंगली कहा जाय वैसा वह मनुष्य मुक्त दशा में विहार करता है। उनके बारे में जो-जो प्रसंग मालूम हुए उस पर से सहजता से अनुमान हो सकता है कि उनकी कक्षा अत्यंत उच्च होनी चाहिए। फिर भी यही व्यक्ति हमारी सब्जी मंडी में खड़ा हो तो उसे मजदूर समझकर सब्जी की टोकरी उठाने के लिए हम जरूर बुलायेंगे और निम्न भाषा का प्रयोग भी करेंगे।

हमारे ध्यान में आई ऐसी अनेक आध्यात्मिक व्यक्तियों को दो हिस्से में बाँट सकते हैं। एक हिस्से में बिलकुल अनाकर्षक आध्यात्मिक व्यक्ति और दूसरे हिस्से में अत्यंत आकर्षक व्यक्ति। एक बिलकुल सामान्य उदाहरण देता हूँ। श्री हेमंतभाई और मैं आज पंद्रह-बीस वर्ष पूर्व कई जगह साथ में आते-जाते थे, जहाँ हम दोनों को खास कोई पहचानता नहीं था। वहाँ मेरी ओर मान-आदर दूसरों में प्रगट होता और हेमंतभाई की ओर ऐसा कुछ अनुभव नहीं होता था। जब कि हमारे दोनों की कक्षा में गुण-विकास में बहुत बड़ा अंतर था। मेरी दृष्टि में उनकी (हेमंतभाई की) तुलना में मेरा गुणविकास थोड़ा भी टिक सके ऐसा नहीं था। तुलना ही नहीं हो सकती थी। फिर भी बाह्य परिणाम का अलग अनुभव होता था। उसका कारण “बाहर का दिखावा”। इससे उस वक्त से मेरी तो समझ दृढ़ होती गई कि लोग तो बाहर के दिखावे से आकर्षित होते हैं, नहीं कि आंतरिक गुण की परीक्षा से, क्योंकि लोगों को आंतरिक गुणविकास का कैसे पता लग सकता है ! “**आकृति गुणान् कथयति ।**” ऐसी जो संस्कृत उक्ति है, वह हमेशा सच नहीं होती। ऐसा हृदय का तेज देखने के लिए देखनेवाले की उच्च आध्यात्मिक दृष्टि होनी चाहिए और इसीलिए समाज के पास से व्यापकरूप से हम ऐसी दृष्टि की अपेक्षा नहीं रख सकते, कभी भी नहीं।

इस प्रकार के विचार को स्पष्ट करने के लिए हमारी पौराणिक कथाओं में अनेक प्रसंग होते हैं। अष्टावक्र को देखकर जनक राजा की पूरी सभा जोर से खुलकर हँसने लगी थी और इससे तो अष्टावक्र को कहना पड़ा था, “हे राजन्! तुम्हारी सभा में सभी मोची है क्या?” क्योंकि वह





सिर्फ हड्डीमांस के शरीर को ही देखनेवाले हैं !” ये अष्टावक्र तो महान ज्ञानी थे, वह सब जानते हैं ।

सोक्रेटिस दिखावे से आकर्षक नहीं थे । उनके होंठ इतने मोटे, बड़े और बेड़ौल थे कि वे बाहुक के समान लगते थे । किन्तु वास्तव में वे बुद्धिमान और परम ज्ञानी पुरुष थे ।

महा विद्वान शुक्राचार्य एकाक्षी (एक आँख से काने) थे । हम सब समझ सकते हैं कि एक आँखवाले मनुष्य की आकृति आकर्षक तो हो ही नहीं सकती । फिर भी वे महा ज्ञानी थे । दानवों के गुरु होते हुए भी देव या देवपुत्र भी उनके पास अभ्यास करने के लिए तरसते रहते थे । यह हमारे पुराण का उदाहरण कितना उत्तम है !

इस प्रकार आकृति के बाहर के दिखावे या गुणविकास या आध्यात्मिकता का कोई संबंध नहीं है । वैसा सब तो भ्रम में डालनेवाला हो सकता है । मजनू लयला की नजर में मजनू था । ऐसा ही हमारी संत के प्रति भक्ति के बारे में भी है । हमारी भक्ति हमारे इष्ट व्यक्ति में ऐसा आकर्षण दिखाती है या मनाती है कि वही उत्तम ही है, किन्तु वह दृष्टि सबको लागू पड़ना ही चाहिए ऐसा न मानें । पार्वतीजी ने भस्म लगाये हुए शिवजी में अत्यंत रूप देखा वह पार्वतीजी की आंतरिक आध्यात्मिक दृष्टि के कारण ही ।



## १६. भावभक्ति बढ़ाने का मौका

पूज्य श्रीमोटा ने सामाजिक जागृति के कामों को हाथ में लिये हैं। उसके लिए आवश्यक आर्थिक व्यवस्था करने के लिए उन्होंने अनोखा रास्ता अपनाया है। भक्त, परिचित, प्रशंसक उन्हें अपने घर आमंत्रित करते हैं। पूज्यश्री उन्हें कम से कम अमुक रकम दक्षिणा मिले तो ही उस आमंत्रण का स्वीकार करते हैं।

आश्रम में भोजन का समय सुबह दस बजे और शाम को पाँच बजे नियमित होता है। इससे पूज्यश्री जब अन्य के घर पर पधरावनी करे उस वक्त भोजन की नियमितता का क्या हुआ होगा ऐसा स्वाभाविक प्रश्न होता है।

बाहरगाँव हो, तब उनके भोजन का समय सुबह दस, शाम को पाँच से साढ़े छ। शाम को थोड़ी माफी दी जाती है। यजमान की सरलता का विचार रखा जाता है, किन्तु सुबह के लिए दस की नियमितता रखनी पड़ती है।

एक शहर में एक यजमान के घर जाने का हुआ, तब पचीस व्यक्ति उनके घर भोजन करनेवाले थे। यजमान ने पूज्यश्री का ध्यान खींचा, “दस बजनेवाले हैं और हमें तो भय रहता है—घबराहट होती है कि शायद भोजन में देरी हो जायेगी।” ऐसे शब्द सहजरूप से बोले गये। पूज्यश्री तुरंत ही प्रकोप सहित उस मतलब का बोले, “यही आप सबकी भूल है। आपको गरज हो तो मुझे बुलाइये। भय क्यों? उलटा आप लोगों में भक्ति प्रकट होनी चाहिए कि जिसे हम पूजते हैं, उनके समय का पालन करने में आनंद, उत्साह और प्रेमभक्ति प्रकट होनी चाहिए। वैसे समय-पालन के कारण भक्ति पनपनी चाहिए। आनंद की उमंग और स्नेह फूटना चाहिए। इस प्रकार नियमित दस बजे ही भोजन तैयार करना, वह भक्ति विकसित करने का एक प्रसंग मानकर उसमें आनंद की वृद्धि करना चाहिए। भय-भीति रखकर ऐसा करो तो वह नकारात्मक मनोभाव माने जायेंगे। उसमें प्रेमभाव नहीं है। जिसे हम चाहते हो, सम्मान करते हो और पूजते हो उसकी सरलता के अनुसार करने में, उसे जो प्यारा और प्रिय हो वह करने में आह्लाद, प्रसन्नता, दिल का खुलापन और उल्लास यदि न प्रकट हो तो वैसी की हुई सेवा भक्ति नहीं प्रकट कर सकती है। पूज्य व्यक्ति का ऐसा अनुशासन -



सख्ती वह तो प्रेमभाव और भक्ति विकसित करने का एक मौका है। उसमें आनंद-हुलास के स्थान पर भीति-भय आदि यदि प्रवेश करते हों तो उस व्यक्ति का विकास नहीं हो सकेगा। ऐसी भीति रखने में तो पूरा हेतु ही मारा जाता है।” इस मतलब का वे बोले। अलबत्ता, वे इतना लंबा नहीं बोले थे। सूत्रात्मकरूप से ही वाक्य बोले थे, किन्तु मैंने उसे विस्तार से विशदरूप से लिखे हैं।

इस पर से हम जो साधना में पड़े हुए हैं, उन्हें एक बाबत में स्पष्टता कर लेने जैसी है और वह यह कि **सभी सेवा के कार्यों से भक्ति और भाव विकसित करने का जाग्रत ख्याल यदि न रह सका तो इससे की हुई सेवा का हेतु पूरा नहीं हो सकेगा। यह हकीकत ज्यादा से ज्यादा हरदिन दृढ़ रूप से हृदय में अंकित हो जानी चाहिए।**





## १७. प्रसन्नता

कोई भी व्यक्ति साधना के मार्ग पर कदम उठाता है, तब कई समस्याएँ आकर उसके सामने खड़ी हो जाती हैं। उसमें से एक समस्या यह कि जो साधना होती है, वह यथायोग्यरूप की है या नहीं? साधक को यह समस्या हल करनी पड़ती है, तो किस प्रकार करनी चाहिए?

साधना का भी अपना थरमामीटर होता है। वैसे थरमामीटर के अनेक उनके नाप और नियम होते हैं। उसमें एक नाप प्रसन्नता है। साधक को समझ लेना चाहिए कि जितने ज्यादा समय तक वह प्रसन्नता कायम रहे, उतनी उसकी साधना यथायोग्य है। इस प्रसन्नता में अवरोध या खिंचाव नहीं होना चाहिए। ज्यादा उतार-चढ़ाव नहीं होना चाहिए। फिर, वह प्रसन्नता सात्त्विक प्रकार की होनी चाहिए, नहीं कि जड़तायुक्त प्रकार की। यह सब लक्षण प्रकट होते हो तो समझना कि हमारी प्रगति सच्ची दिशा में है। यदि हमारी प्रगति सच्ची दिशा में होगी तो पहले जो हम छोटी-छोटी क्षुल्लक बाबतों से या घटनाओं से झेंप जाते थे, घीर जाते थे और विक्षिप्त हो जाते थे, वह सब अब रुक गया होगा, क्योंकि हमारे मूल्यांकन बदल गये होंगे।

रेत का रेत में बनाया हुआ किला या घर गिर जाने पर पुख्त उग्र का मनुष्य उस पर विलाप नहीं करता है। किन्तु बालक के मन तो उससे उलटा ही होगा। उसके मन उसका सर्वस्व टूट गया जैसा लगता है और उस कारण से वह खिन्न होता है। ऐसा ही साधना के मार्ग पर भी है। जिसके मूल्यांकन साधना के कारण बदल गये होंगे, उसकी प्रसन्नता गौण घटनाओं से कम नहीं होती है। उसमें एक प्रकार की समता व्यापत हो रही होती है और समत्व में स्थिर होते जाते हैं।

इसका अर्थ कोई ऐसा ना करे कि समता प्राप्त करनेवाले में संवेदनशीलता कम हुई है या नहीं है। उलटा जिसमें प्रसन्नता ज्यादा से ज्यादा पनपती जाती है, उसकी संवेदनशीलता बढ़ती है। पहले की संवेदनशीलता उसके काबू से बाहर थी। अब की संवेदनशीलता उसके काबू की बाबत है। इससे ही संवेदनशीलता का प्रमाण बढ़ने पर भी दिखता नहीं है। साधना में विकास होते-होते साधक सूक्ष्म संवेदनों का तो अनुभव करता है। उतना ही नहीं, किन्तु तीव्ररूप से अनुभव करता है, किन्तु वह चला जाता है। उसकी असर गहरी नहीं रहती है और इसलिए ही उसकी



प्रसन्नता घायल नहीं होती।

दूसरा लक्षण यह कि साधना विकास प्राप्त करती जाएगी वैसे-वैसे साधक के विचार सात्त्विक प्रकार के होते जायेंगे। रागद्वेष, ममता, क्रोध, ईर्ष्या, असूया इत्यादि की लहरें दूर होने पर या आते हुए रुक जाते होने से भी उसकी प्रसन्नता अस्थिर नहीं हो सकती।

मनुष्य का अहम्, द्वेष अनेक सूक्ष्म रीति से झाँककर उसके मन में न्यूनता लाते हैं। दूसरों के प्रति अन्यथारूप से भी सोचने का होता है। जहाँ ऐसा होता है, वहाँ प्रसन्नता टूटेगी ही। **प्रसन्नता प्रकट करने, टिकाने और उसमें स्थिर होने के लिए चित्त की शुद्धि, गुणशक्ति का विकास और सात्त्विक भाव में निष्ठा प्राप्त करने की बहुत जरूरत रहती है। यह सब यदि प्राप्त हो तो प्रसन्नता कायम रहेगी ही।** इस सबका अंतर्मुख होकर निरीक्षण करके हम अपने आपको नाप सकते हैं कि हम कहाँ हैं ?

इसीलिए पूज्य श्रीमोटा ने अनेक बार कहा है कि साधना अंधी नहीं है। उसमें भी विज्ञान की तरह चौकस अंक है, सबूत हैं, थरमामीटर हैं। जिसका अहम् बार-बार व्याकुलता अनुभव करे और झाँका करे उसकी प्रसन्नता अनेक बार भंग होगी ही। अहम् प्रकट होते या झाँकते अयोग्य विचारधारा-अन्यथा विचारधारा मन में उठेगी ही। मन का प्रत्याघात-मन का Reaction अयोग्यरूप से होगा ही। और ऐसा होते ही तुला का सामने का पल्ला हिलेगा ही। तुला की दंडी एक तरफ झुकेगी ही। फिर इसका तराजू भी अति सूक्ष्म है, हीरे तौलनेवाले तराजू से भी सूक्ष्मतर है। हवा की लहरों का वजन जैसे जान नहीं सकते वैसे अहम्, द्वेष इत्यादि की लहरों का वजन जान नहीं सकते। किन्तु प्रसन्नतारूपी इस सूक्ष्म तराजू में तो उसकी एकाध छोटी लहर भी पल्लू को ऊपर नीचे करने में पूरी शक्तिमान है। यह सब साधना के मार्ग पर चलनेवाले को सहजरूप से समझ में आ सकता है।

अपने मन को अंतर्गतरूप से ध्यानपूर्वक देखते रहने का जिसे अभ्यास है—और साधना का यह एक महत्त्व का अंग है—उसे तो सरलता से ही ख्याल आ जायेगा कि हम कहाँ हैं और कितने किस दिशा में जा रहे हैं। इसमें कहीं भी भुलावा में गिरने का या भ्रम में रहने जैसा नहीं है। “ दो और दो चार ” जैसे स्पष्ट सबूत और निश्चित रीति की हिसाबी गणना इसमें देखी जा सकती है।



## १८. आश्रम की अटारी से

किसी भी जाग्रत साधक को छोटी-छोटी बाबतों में और कार्य में अपनेआप बहुत विचारशील बनना चाहिए और वह भी सहजरूप से । साधना में यह अति आवश्यक है ।

आश्रम के साथ के संबंधों में भी यह बाबत विचार करने योग्य है । ऐसे अनेक प्रसंग देखने में आते हैं कि जब जाग्रत विवेक की कमी दिखाई देती है । आश्रम में आनेवाले मुलाकातियों में से कई कार में आते हैं और उनमें से कई अपनी कार बिलकुल पूज्य श्रीमोटा की बैठने की खिड़की तक लाते हैं । कई समझदार विवेकी होते हैं, वे वाहन को दूर खड़ा रखते हैं और ऐसे चूपचाप आते हैं कि आश्रम के अधिष्ठाता महाराज को पता भी न लगे कि वे किस प्रकार आए हैं । कार में आएँ हैं या अन्य रीति से ।

यह मुद्दा यों तो बहुत सादा और गौण है । फिर भी उसमें वाहन में आनेवाले का मानस कुछ अंशों में भाँप सकते हैं । बहुत से व्यक्तियों को तो ऐसी समझ ही नहीं है कि वे कुछ गलत कर रहे हैं । इस तरह वाहन बिलकुल आश्रम के हृदयस्थान तक ले आना उसमें न तो विवेक है या ना ही सौजन्य । उलटा उसमें तो एक प्रकार की उद्धताई, अविवेक, समझ का अभाव और क्षुल्लक अहम् का प्रदर्शन है । हमें जिनके प्रति मान, आदर और भाव हो और उन्हें मिलने जा रहे हों तो उनकी देहलीज तक वाहन ले जाना वह योग्य नहीं है । ऐसे आश्रम के पवित्र वातावरण में तो बिलकुल नहीं ही नहीं । ऐसे आश्रम के पवित्र वातावरण में सच्ची रीति तो यह है कि वाहन कुछ दूर खड़ा करके पैदल चलते हुए सामने जाना उसमें ही सच्ची नम्रता और विवेकवाली भक्ति रही हुई है ।

जैसे वाहन में बैठने में पहले बैठना या बाद में, और कहाँ किस प्रकार बैठना, उसमें भी विवेक रखना पड़ता है, उसी प्रकार इसमें भी वैसा ही है । इसके अतिरिक्त, दूसरे अनेक प्रसंग हो सकते हैं । होर्न या ब्यूगल (Bugle) न बजाना । आवाज कम से कम करना । वाहन का दरवाजा बहुत धीरे से बंद करना, फिर भी बराबर बंद हुआ है या नहीं उसकी सावधानी रखना इत्यादि इत्यादि !

संक्षेप में, अपनी सत्ता का, अपने ऐश्वर्य का, अपनी श्रीमंताई का,



अपनी विद्या का या अपनी पंडिताई का जितना हो सके उतना कम दिखावा करना चाहिए या तो बिलकुल न करें तो तो अति उत्तम । सत्ता, ऐश्वर्य, श्रीमंताई मिली है तो जा भी सकती है, किन्तु उसे यथार्थरूप से पचाना, उसमें और उसमें से संस्कार प्राप्त करना, पोषण करना और प्रकट होने देना वह एक अनोखी बाबत है । उसमें एक विशिष्ट प्रकार की कला रही हुई है । मूल बात यह है कि हमने विचार करना ही जैसे छोड़ दिया है । साधक को विचारशील होना अति आवश्यक है ।

किसी के घर पर हम गये हों और दरवाजा बंद हो तो जाली में से, खिड़की में से या दरवाजे में से झाँकना नहीं चाहिए । या तो सीधा पूछकर अंदर प्रवेश करना या तो बाहर सभ्यतापूर्वक खड़े रहना या बैठना । जोर से आवाज न करना या आपस में बातें भी न करनी चाहिए । जिस किसी स्थल पर या धाम में गये हों, उसके बारे में वहाँ के वहाँ आपस में अन्यथा भाव-वाली टीका-टीप्पणी नहीं करनी चाहिए और करनी ही हो तो वहाँ से बाहर निकलने के बाद करनी चाहिए । (यद्यपि न करें वह ही उत्तम)

किसी के बगीचे के फूल, पत्ते, फल मुलाकात के समय तोड़ना वह बड़ा अविवेक है । हम ऐसा न करें उसका सतत ख्याल रखना जरूरी है । मुलाकात के स्थल की साफसफाई और व्यवस्था में भी हमें दखल नहीं करनी चाहिए । सूचन, सलाह देने भी नहीं बैठ जाना चाहिए । वह सब सिर्फ देखते रहना वही उत्तम रीति है ।

आश्रम में जब कोई भी व्यक्ति आता है, तब वह आश्रम के अधिष्ठाता को मिलने के लिए उत्सुक रहता है और वह कुछ सीखने आता है, कुछ लेने आता है या प्राप्त करने के हेतु से आता है । इस बात की हम में से बहुतों को जानकारी नहीं होती है, इससे ज्यादातर लोग दूसरे प्रकार की रीति से ही बरताव करते दिखते हैं ।

सही मायने में, आश्रम जैसे स्थल पर देखने जाना हो तो जिस दिन ज्यादा लोग इकट्ठे होने की संभावना हो वैसे दिन हो सके तो नहीं जाना चाहिए । **झुंड में तत्त्व नहीं प्राप्त हो सकेगा** । यदि अनुकूलता हो तो जिस दिन और समय अन्य मुलाकातियों का हल्ला न हो वैसे दिन और समय पसंद करना चाहिए । मुलाकात के समय आश्रम या वैसे स्थल के व्यवस्थापक या संचालकों को कम से कम तकलीफ हो वैसे दृष्टि रखनी चाहिए । **घर से आखिरी आधे घंटे पहले तो हम चाय-नास्ता करके निकले हों और यदि ऐसे स्थल पर हमें चाय-नास्ता लेने का कोई प्रस्ताव देवें तो उसका स्वीकार करना उसमें विवेक नहीं है, ऐसा स्पष्ट लगता है ।** एकाध





बार आश्रम के प्रसाद के रूप में या मान रखने के लिए स्वीकार करें, वहाँ तक आपत्तिजनक नहीं है, किन्तु बारबार मेहमान की तरह बरताव पाने की आदत और उसका स्वीकार वह आश्चर्यजनक है। वह योग्य नहीं है, यह निर्विवाद है। खाने-खिलाने की, पीने-पीलाने की जो रीति हमारे समाज में रूढ़ि बन गई है, वह एक जमाने जब अतिथि सच्चे अर्थ में अतिथि था, तब योग्य होगी, किन्तु अब तो वह यांत्रिक रिवाज समय, श्रम और स्वास्थ्य को नुकसानकर्ता है ऐसा लगता है।



## १९. मौनमंदिर और बहनें एवम् मौनमंदिर की विशिष्ट रचना का हेतु

सूरत और नडियाद दोनों स्थल पर बहनें और भाइयों मौन में बैठते हैं। नडियाद की तुलना में सूरत में बहनें ज्यादा प्रमाण में बैठती हैं। कई बहनें लंबी अवधि के मौन में भी बैठती हैं और सात-सात दिन बैठनेवाली तो अनेक बहनें हैं। लगभग बैठनेवालों में ४० प्रतिशत जितना प्रमाण अब बहनों का हुआ है। नडियाद आश्रम और सूरत आश्रम का इकट्ठा विचार करें तो बहनों में ज्यादा से ज्यादा १२० दिन बैठने का रेकोर्ड है। भाइयों में ऐसा रेकोर्ड ३८८ दिन का है और वह दो भाइयों का है। एक विदेशी केनेडियन युवान (श्री रोबीन आर्मस्ट्रॉंग) और दूसरा एक पंजाब के हमारे देश के युवान। (श्री राजकुमार गुप्ता, 'मौनीबाबा'-फिरोजपुर) का।

वह तो मानो ठीक। किन्तु दूसरी तरफ एक या दूसरे कारण से बाहर निकल जानेवाले भी होते हैं। १९६० तक की संख्या देखते हुए बाहर निकलनेवालों की संख्या ५ प्रतिशत थी। वर्तमान में (ई. स. १९८० में) वह संख्या बढ़कर १० से १२ प्रतिशत हो गई है। हालाँकि बैठनेवालों की संख्या में वृद्धि हुई है। पहले मौन में बैठना वह जैसे जीवन का विशिष्ट प्रसंग था। बैठते वक्त और बाहर निकलते वक्त ठीक-ठीक प्रमाण में स्नेहीजन विदाय देने और सत्कार करने आते थे। अब ऐसा खास रहा नहीं है। संख्या और गुणयुक्तता के बारे में जीवन के किसी भी क्षेत्र में व्यस्त प्रमाण में संबंध रहा हुआ है। गुणयुक्तता बढ़े तो संख्या कम हो, संख्या बढ़े तो गुणयुक्तता कम हो। इससे स्वाभाविक रीति से यह बाबत मौन में बैठनेवालों को भी लागू होती है। लम्बे दिन के लिए मौनार्थियों में से अधबीच में यज्ञ आधा-अधूरा रखकर बाहर निकल जानेवाले बहुत ही कम हैं, शायद ही कोई। अत्यंत कम संख्या में बाहर निकलनेवालों का प्रमाण सात दिन के लिए बैठनेवालों में ज्यादा मिलता है और यह बिलकुल स्वाभाविक भी सही। क्योंकि आध्यात्मिक मार्ग पर जाने का प्रयत्न करनेवाला जब मौन में बैठने का विचार करता है, तब शुरूआत सात दिनों से ही करेगा और शुरूआत होने से अनेक प्रकार के प्रयत्न में टिक न सके तो बाहर भी निकल जायेगा। इस प्रकार करते-करते आदत हो जायेगी यह बिलकुल कुदरती है। इसी कारण से ही सात दिन के लिए बैठनेवालों में बाहर निकलनेवालों का प्रमाण ज्यादा है।



एक खास विशिष्टता यह देखने को मिली है कि निर्धारित समय के पहले बाहर निकल जानेवालों में प्रायः पुरुष ज्यादा होते हैं। कोई-कोई बहन ही अधबीच से बाहर निकली है। सात वर्ष की उम्र की एक बालिका सूरत आश्रम में सात दिन के लिए बैठी थी। चार दिन बाद वह थोड़ी ऊब गई थी और थक गई थी। उसने बाहर आ जाने की चिट्ठी रखी, किन्तु उसे उत्साह देने पर सात दिन उसने पूरे किये। नडियाद आश्रम में एक ग्यारह वर्ष की बालिका भी बैठी थी। आखिरी दिन आश्रम में शादी थी, तब पूज्य श्रीमोटा ने उसे दो बजे बाहर निकल कर शादी में उपस्थित रहने की चिट्ठी लिखकर सूचन किया। तब उसने लिखा, “मैं तो मेरे पप्पा रात को सात बजे लेने आनेवाले हैं तब ही निकलूँगी।” ऐसी तो उसकी शक्ति रही थी! जब उसने बैठने की इच्छा प्रकट की थी और आश्रम के संचालक ने उसको प्रोत्साहन दिया था, तब उसके पिता ने कहा, “उसे दिन में पाँच बार तो खाना चाहिए। वह कैसे रह सकेगी?” तब तुरंत आश्रम के संचालक ने जवाब दिया था कि पाँच बार हम देंगे, किन्तु ऐसा नहीं करना पड़ा और वह बालिका अंदर रह सकी।

अधबीच में बाहर निकल जानेवालों में बहनों का प्रमाण बहुत ही अल्प है। यह दिखाता है कि बहनों में Tenacity-तितिक्षा, धैर्य, सहनशक्ति इत्यादि गुण प्रधानरूप से हैं। वे मन को ज्यादा सख्त - मजबूत कर सकती हैं। **सत्तर-बहत्तर साल की एक वृद्ध बहन ने कई दिन तक उसके शरीर में बुखार होते हुए भी दवा लिये बिना इक्कीस दिन पूरे किये थे।**

एक बहन सवा साल की एक बालिका को लेकर पालना अंदर रखकर सात दिन के लिए सूरत आश्रम में मौन में बैठे थे। इस प्रकार बैठने का यह एक अपवादरूप किस्सा था। सूरत आश्रम में एक पंदरह वर्ष की कुमारिका सात दिन के लिए मौन में बैठी थी। वह बहन इतने तो बुलंद आवाज से सुंदररूप से हरिःॐ का नामस्मरण करती - जप करती थी कि दूर-दूर तक उसकी मधुर झंकार गूँज उठती थी। बहनों में सहनशक्ति के साथ समझशक्ति भी विशेष प्रमाण में देखने में आई है, भाव भी उनमें ज्यादा होता है। मौनअवधि दरमियान उनमें भाव भी ज्यादा होता है। मौनअवधि दरमियान उनमें भाव की वृद्धि भी बहुत देखने को मिलती है। एक बहन को दो वर्ष से जीर्ण ज्वर लागू पड़ा था। वह बिना दवाई के सात दिन के मौन में मिट गया। एक गृहस्थी बहन पहली बार ही सात दिन के लिए बैठे थे। सात दिन पूरे होने पर उन्होंने अपनेआप सात दिन बढ़ाकर दूसरे सात दिन की माँग की थी, उस वक्त अनुकूलता थी, इसलिए





बढ़ा दिये गये थे।

बैठनेवालों में सब से कम उम्र सात साल की और बड़ी से बड़ी पिच्चासी साल की है। बैठनेवालों में स्थानिक लोग-गाँव में से बैठनेवालों से लेकर गुजरात के विविध स्थलों से भी आते हैं। सौराष्ट्र से भी बड़ी संख्या में आते हैं। पंजाब, हरियाणा, भुवनेश्वर, कटक इत्यादि स्थलों से भी आते हैं। मुंबई शहर में से भी अच्छी संख्या में आते हैं। कई परदेशी भाई-बहनों ने भी योग्य रूप से लाभ लिया है। मूल गुजरात के बहुत से भाई-बहनें जो वर्तमान में इंग्लेन्ड-अमेरिका जाकर बसे हुए हैं, वे थोड़े समय की मुलाकात के लिए स्वदेश आते हैं, तब उनमें से कई समय निकालकर मौन में बैठना पसंद करते हैं। अंदर बैठनेवालों को विविध प्रकार की असर होती है। किसी का वजन बढ़ता है तो किसी का कम होता है। मौनअवधि के दरमियान कई रातें बिना नींद की गुजरने की हकीकत जानने को मिली है। १७ से १८ घंटे सतत नामस्मरण जोर से लिये जाने की हकीकत भी मालूम हुई है। एक-दो वक्त बैठकर निकल जानेवाले भी हैं। एक वर्ष-प्रतिवर्ष नियमित बैठनेवाले भी नाम लिखवाते हैं।

**बैठनेवालों में धर्म, जाति, लिंग, इत्यादि का कोई भेदभाव रखा नहीं जाता है।** हर एक धर्म का व्यक्ति बैठता है। मुस्लिम धर्म के अनुयायी भी लाभ लेते हैं। एक मुस्लिम भाई तो अपनी साधना के लिए कयामत के दिन की तैयारी के लिए कोफिन (Coffin) - शव रखने की पेटी लेकर मौन में बैठते हैं और पूरी रात एक तरफ की करवट पर सोने की आदत बनाते हैं। खिस्ती भाई एवम् पादरी भी आते हैं। जैन तो अच्छी संख्या में लाभ उठाते हैं। पारसी भाई भी आते हैं। हिंदू धर्म के अनेक संप्रदाय के भाई भी आते हैं। अंदर बैठनेवालों में अनेक गुरुओं के शिष्य हैं। **पूज्य श्रीमोटा को ही गुरु मानना अनिवार्य नहीं है। अन्य गुरु के उपासक मौनमंदिर में जो पूज्य श्रीमोटा का फोटो रखा हुआ है, उसे नीचे उतारकर अपने गुरु का फोटो रख सकते हैं। जहाँ तक स्पष्ट रूप से मार्गदर्शन माँगने में नहीं आता है, वहाँ तक आश्रम किसी को मार्गदर्शन देता नहीं है।**

नडियाद और सूरत दोनों आश्रमों में वर्तमान में (१९८० में) पाँच-पाँच मौनकमरों की सुविधा है। शांत, एकांत वातावरण में आपनी दैनिक आवश्यकताएँ आसानी से निश्चित और निश्चित रीति से प्राप्त कर सके और शांति से प्रभुभजन कर सके उन हेतुओं को ध्यान में रखकर इन मौनमंदिरों की स्थापना पूज्य श्रीमोटा ने की थी। वे आधुनिक सुविधा के साथ जैसे प्राचीन जमाने की गुफाएँ हैं। सब कमरें एकसमान बड़े नहीं हैं।







कई एकसमान माप के हैं। नडियाद में दो गुंबद आकार के और सूरत में तीन कमरें एकसमान बड़े हैं। किन्तु बाकी के थोड़े छोटे हैं। अंदर एक व्यक्ति के जीने के लिए आवश्यक हवा के आनेजाने के लिए सूराख किये गये हैं। उन पर भी काले परदे डाले हुए हैं। **इलेक्ट्रिक लाईट बंद हो तो अंदर बिलकुल अंधेरा होता है।**

ऐसी रचना का हेतु साधक को बाहर के विश्व से अपनी तमाम इंद्रियों को खींच लेने में मददरूप होने का है। व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास में अंतर्मुख होना अनिवार्य है। इसलिए ऐसा वातावरण इंद्रियों को उसका भोजन देना बंद कर देता है। इससे बहिर्मुखता घटती है—कम होती है और अंतर्मुखता बढ़ती है और व्यक्ति अपने स्वयं के साथ एक होता है। इतने मात्र से मन के संकल्प या विचारों की सौंकल एकदम बंद हो जायेगी ऐसा कहने का आशय नहीं है। किन्तु इतना तो जरूर है कि जप, ध्यान, भजन, कीर्तन, मनन, चिंतन, आत्मनिवेदन इत्यादि साधनों द्वारा मन की ऐसी स्थिति प्राप्त करने में हवा-प्रकाश बिना की अभी की मौनमंदिर की रचना उपकारक होती है। **सब से पहले शरीर, इंद्रियाँ और मन को पड़ी हुई आदतों में से बाहर निकालने की जरूर है। उसके लिए यहाँ अनुकूलता खड़ी की गई है। चोबीसों घंटे बाहर से आनेवाले विरोधी आंदोलनों से अपनेआप को मुक्त रख सकते हैं। उसके लिए बाहर से जितनी हवा अल्प और जितनी उसकी लहरें कम प्रमाण में अंदर प्रवेश करे उतना उत्तम।**

कइओं को गरमी के दिनों में—उष्णकाल में गरमी, उमस, दम घूटना होता है, और पसीने का पतला प्रवाह बहता है, किन्तु वह सब अंत में तो लाभदायक है, ऐसी दृढ़ मान्यता रखकर उस वातावरण का लाभ लेना चाहिए। साधक कमरे में आराम करने या शरीर को सुखचैन में रखने के लिए नहीं बैठता है। तप के बिना सिद्धि नहीं है। साधना की अमुक प्रक्रिया में साधक अपने आसपास गोल-घेरा करके कंडे-लकड़ियों की अग्नि सुलगाकर तपते ग्रीष्मकाल में बैठता है। उसके आगे यह बंद कमरा तो कुछ बिसात में नहीं है। अनाज पकने के लिए भी धरती को गरमी—प्रचंड गरमी—की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार साधक को भी उथल-पुथल की भी आवश्यकता रहती है। इससे मौन में प्रवेश करनेवालों की आदतों से विरुद्ध के शारीरिक संजोग भी इस हेतु के लिए जरूरी हैं। साधना करना यानी पड़ी हुई आदतों को उलटाना।

अंधेरा एकाग्रता का पोषक है। इस कारण कमरे में अंधेरा रखा गया है। जितना ज्यादा अंधेरा रखा जायेगा, उतना साधना के हेतु को वह पोषक है।



## २०. मुक्त सम्बन्धी समझ

जो व्यक्ति आध्यात्मिक साधना के अंत में आत्मसाक्षात्कार का अनुभव करता है, उसके लिए आध्यात्मिक साहित्य में अनेक शब्दप्रयोग हैं। चेतननिष्ठ, आत्मनिष्ठ, आत्मसाक्षात्कारी, ब्रह्मनिष्ठ, जीवन्मुक्त, अनुभवी इत्यादि शब्दों का उपयोग होता है। जीवन्मुक्त का अर्थ होता है कि स्वयं यह जीवन चल रहा था, उस दरमियान ही मुक्तदशा को प्राप्त हो गये हैं। वह अपने सभी कर्मबंधन से मुक्त है। उसके कर्म उग न सके ऐसे बीज - दग्धबीज - हो गये हैं। उसे अब किसी कर्म की असर नहीं है और “जीवन्मुक्त” समग्र शब्द का उपयोग न करते हुए संक्षेप में सिर्फ मुक्त शब्द का भी उपयोग किया जाता है।

ऐसे मुक्त को पहचानना किस प्रकार? सचमुच हम उसे पहचान सकते हैं क्या? ऐसा एक प्रश्न पैदा होता है और यदि पहचान सके तो उसके कोई खास लक्षण हो सकते हैं क्या? ऐसा प्रश्न भी पैदा होगा। उसका जवाब ढूँढ़ने से पहले इतना जान लेना पड़ेगा कि “मुक्त” वह तो प्रभु की इस जगत पर की प्रतिकृति है। वह तो प्रभु का प्रतितिथि है। इससे प्रभु को पहचानना जितना मुश्किल है, उतना ही मुक्त को पहचानना मुश्किल है।

यद्यपि उसे संपूर्णरूप से समझ सकना तो दुष्कर है। मुक्त को यदि कोई संपूर्णरूप से पहचान सकता हो तो वह स्वयं ही पहचानता है। फिर भी हमारी समझ में आवे, हमारी स्पष्टता विकसित हो ऐसा कुछ लिख सकते हैं। “मुक्त” के लक्षण के बारे में एवम् पहचानने के चिह्नों के बारे में संक्षेप में लिख सकते हैं और विस्तार से भी लिख सकते हैं, विचार कर सकते हैं।

उन्हें पहचानने में या समझने में कई मुश्किलियाँ होती हैं। एक मुश्किल तो यह कि एक मुक्त और दूसरे मुक्त के बीच उनके व्यक्तत्व में उलटासूलटी भेद दिखता है। कोई बार तो उनका रहन-सहन और व्यक्तित्व में आसमान जमीन का फर्क होता है। फिर भी ऐसे विरोधी लक्षणवाले भी सचमुच सच्चे मुक्त होते हैं।

भगवान, प्रभु, परमात्मा, परम चेतन जो कहें वह, उसके बारे में “प्रभु यानी ऐसा ही या वैसा ही” वैसा हम नहीं कह सकते। यदि ऐसा वर्णन करें तो प्रभु के स्वरूप में एक सीमा बाँध देते हैं। सही मायने में तो प्रभु के लिए किसी गुण का प्रदान नहीं हो सकता। ऐसा करने पर हम प्रभु



को मर्यादित करते हैं। वैसे करने में आखिरकार हमें कोई विधान तो करना पड़ेगा ही न। किसी भी कर्ता के सम्बन्ध में कोई विधान करें उसे कुछ attribute करें तो कर्ता में समाया हुआ विस्तार मर्यादित हो जाता है। यह समझ में आवे तो वह समझ में आयेगा कि प्रभु के सम्बन्ध में कुछ कहने से प्रभु को मर्यादित बना देते हैं। इसलिए उपनिषदों ने सारांश निकाला “नेति नेति” अर्थात् “न इति” – “यह नहीं” इसका अर्थ यह है कि प्रभु को “यह है” ऐसा कहने के बदले “यह नहीं” ऐसा कहने में सच्ची रीति से वर्णन कर सकेंगे। **संक्षेप में जहाँ सीमा को बाँधा, वहाँ प्रभुत्व उड़ गया समझना, क्योंकि प्रभु तो असीमित है। अनंत है। अनहद है वह। यही बात मुक्त को भी लागू पड़ती है कि “मुक्त” यानी ऐसा ही या वैसे ही” ऐसा नहीं कह सकते हैं।**

व्यक्ति पामर मनुष्य में से कमशः मुक्त दशा को प्राप्त करता है। जीव का शिव होता है। **“तुंडे तुंडे मतिर्भिन्ना”** हरएक मनुष्य के मन में भिन्न-भिन्न बुद्धि रही हुई है। यानी कि दो मनुष्य शायद ही एकरूप हो सकते हैं। यह जैसे मनुष्य के लिए सच है वैसे मनुष्य में से मुक्त हुए व्यक्ति के लिए भी सच है। मुक्त होनेवालों का बरताव एकदूसरे के साथ समरूप न हो ऐसा हो सकता है। दुनिया के अब्जों मनुष्यों की प्रकृति निरनिराली है। एकदूसरे के साथ बिलकुल नहीं मिलती है। उनके चेहरे भी नहीं मिलते हैं, उनकी आवाज भी नहीं मिलती है। वैसे ही मुक्त के सम्बन्ध में समझना चाहिए। उसका कारण यह है कि हरएक मुक्त को अपनी अलग प्रकृति है। उस मुक्त को भी व्यक्त होने के लिए अपना अलग पाट होता है। फिर, व्यक्त होने के लिए ऐसे पाट की जरूरत भी होती है।

कोई ऐसा पूछे कि पामर जीवदशा के मनुष्य और मुक्त उन दोनों के बीच क्या अंतर है? वह एक ही वाक्य में समझावे। तो ऐसा कह सकते हैं कि **पामर जीवदशा का मनुष्य प्रकृति के वश में होने से प्रकृति का दास है। जब कि मुक्त प्रकृति का स्वामी होने से, प्रकृति उसके अधीन है। यह है दोनों के बीच का मूल अंतर।** इसमें एक वस्तु का स्वीकार हो ही गया है कि दोनों को—पामर और मुक्त को—अपनी अलग प्रकृति तो है ही। फर्क यह है कि पामर मनुष्य प्रकृति के बहाव में परतंत्ररूप से—अवशरूप से धकेला जाता है, बरताव करता जाता है। जब कि “मुक्त” अपनी प्रकृति को काबू में रखकर, उसे ताबे की वस्तु बनाकर, प्रकृति का उपयोग अपने को व्यक्त होने के लिए चैनल के रूप में करते हैं। किन्तु यहाँ एक प्रश्न





उपस्थित होता है कि कोई भी व्यक्ति पामर मनुष्य की तरह अवशरूप में बरताव करता है या मुक्त की तरह स्ववशरूप में बरताव करता है वह दूसरा मनुष्य-अनजान व्यक्ति किस प्रकार तय कर सकेगा या कह सकेगा ?

मनुष्य प्रकृति से अवशरूप से बरताव करे या स्ववशरूप से बरताव करे उसका साक्षी तो वह स्वयं ही है। **मुक्त की बाबत में इतना कह सकते हैं कि उसकी सेवा करने भक्तिभाव से निकट में लंबे समय के लिए रहने-वाले को कुछ समझ में आवे तो आवे। वह भी ऐसी ख्वाहेश या तंदेही समझने की रखे तो।**

एक पत्थर को आबालवृद्ध सब कोई परख सकते हैं। अरे, संगमर्मर जैसे कीमती पत्थर को भी प्रमाण में बड़ा कहा जाय ऐसा समुदाय परख सकता है। किन्तु हीरे को अल्प लोग ही परख सकेंगे। इससे एक बाबत तो स्पष्ट समझ में आयेगी कि बड़ा समुदाय जिस वस्तु को परखे या अपनावे या उसका बखान करे सिर्फ उसी कारण से वह वस्तु अति मूल्यवान नहीं हो सकती। हीरे को तो लाख में से दो-पाँच व्यक्ति और कम संख्यावाले ही पहचान सकते हैं। इतने मात्र से हीरा सामान्य पत्थर नहीं माना जा सकता। हमारे में कहावत है कि “हीरे को तो जौहरी ही पहचाने”। वैसे “मुक्त” को बहुत थोड़े मनुष्य ही पहचान सकेंगे, किन्तु उतने मात्र से उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता है। पंडित, विद्वान, कथाकार हजारों को संबोधित करेंगे और हजारों उनका सम्मान करेंगे, इससे वे मुक्तपुरुष से आध्यात्मिक दृष्टि से ज्यादा महत्त्व के नहीं हो सकते। इस प्रकार, “मुक्त” की परख मुश्किल है, दुष्कर है, दुष्प्राप्त है। और इसीसे हमारी जवाबदारी बढ़ जाती है कि हमें “मुक्त” को पहचानने की कला में निपुण होना वह अति आवश्यक है। किन्तु इस कला को हस्तगत करने की एक पूर्व शर्त है और वह यह कि जितने अंश में हम हमारे आत्मा को पहचान सके होंगे, उतने अंश में उस कला में निपुण बनेंगे। इस प्रकार पगड़ी की एँठन अंत में आकर खड़ी रह जाती है। मुक्त को पहचानने के लिए या बराबर समझने के लिए हमें हमारी प्रकृति में से मुक्त बनना चाहिए। यों मुक्त को पहचानने के लिए हमें बहुत लंबा आध्यात्मिक मार्ग काटना पड़ेगा।

बुद्धि की मानसिक समझ से भी किसी मुक्त को पहचाना जा सकता है सही, किन्तु वैसी समझ का उपयोग वैसी व्यक्ति प्रचलित धन के समान नहीं कर सकती है। वैसी व्यक्ति के जीवन को उन्नत बनाने के मार्ग में वैसी बुद्धि की रूखी-सूखी समझ उपयोगी नहीं होती है। इसलिए उत्तम रास्ता तो यह है कि हमें स्वयं इस दिशा में उन्नत होने के लिए प्रयास करना





पड़ेगा। अब, हम एक दूसरे मुद्दे की चर्चा पर आवे और वह है मुक्त के लक्षण। **मुक्त का सब से पहला लक्षण मानना हो तो वह है उनमें अहम् न हो।** किसी समय ऐसा हो सकता है कि उनकी वाणी में आपको अहम् का आभास हो। जब कहीं ऐसे दर्शन हो, तब पृथक्करण करने पर ज्ञात होगा कि वह अहम् नहीं, किन्तु सात्त्विक हुँकार है। प्रकृति से प्रेरित पामर मनुष्य में कार्य करनेवाला जो अहम् होता है वैसा अहम् वह नहीं है। वह तो कोई आर्षवाणी या पयगंबरी भाषा होती है। उसके अहम् का तो ऊर्ध्वीकरण हो गया होता है। अहम् पिघल गया होता है। उसे आग्रह, सिद्धांत, वाद या संप्रदाय नहीं होते। उसे कोई मिशन नहीं होता। सबके साथ एकरूप हो सकता है। पापी या पुण्यशाली, दुष्ट या सज्जन, नीतिमान या अनीतिमान, चोर या धनवान, श्रीमंत या गरीब, राजा या रंक, सेठ या नौकर ऐसे सभी वर्ग के लोगों के साथ वह एकरूपता – तादात्म्यता का अनुभव कर सकता है। इन सभी में उसे रस होता है। नहीं आग्रह होता झोंपड़े का या नहीं आग्रह होता महल का, नहीं आग्रह होता राग का या नहीं आग्रह त्याग का। इस प्रकार वह सभी द्वंद्वों से पर-द्वन्वातीत हो गया होता है। ऐसे अहम् से उसे मुक्ति मिली होती है।

दूसरा लक्षण यह कि उसे किसी में राग या द्वेष नहीं होता। और उस कारण से उसे कोई सिद्धांत नहीं होता। सिद्धांत हो तो एकमात्र प्रभु-प्रेम का। प्रभु का उसने साक्षात्कार किया होता है और स्वयं प्रेमस्वरूप हो गया होने से उसे किसी भी सिद्धांत की जरूरत नहीं रहती है। ऐहिक या राजद्वारी आदर्श की उसे जरूर नहीं होती। उसे कोई सिद्धांत नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं समझना है कि उसे जीवन में उच्च मूल्यांकनों में रस नहीं या तो ऐसे जीवन के उच्च मूल्यांकनों के प्रति वह उदासीन है। ऐसा नहीं है, बिलकुल नहीं है। उसे तो स्वयं के लिए अब कुछ प्राप्त करना बाकी न होने से उसे सिद्धांत की जरूरत नहीं है। जहाँ सिद्धांत बाँधा या रहा कि राग होगा ही। राग के बिना सिद्धांत का पालन और प्रकार संभव नहीं हो सकता और रागद्वेष तो द्वन्द्व है। एक हो तो दूसरा तो होगा ही। किसी में राग हुआ कि उसके साथ किसी के लिए द्वेष होगा ही, करना ही पड़ेगा, अपनेआप उत्पन्न होगा।

उसका अहम् पिघल गया होने से किसी भी काम के उसे संस्कार नहीं पड़ सकते हैं। वे संस्कार न पड़ने से पाप-पुण्य, नीति-अनीति, इन सबके साथ वह एकसमान प्रकार से व्यवहार कर सकता है – बिना संकोच के। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि वह अनीतिमान हो सकेगा या होगा।





किन्तु नीति-अनीति के मूल्य उसके लिए बदल गये होते हैं। उसके लिए वह दोनों समान हो जाते हैं। नीतिमान कार्य हो या जगत की दृष्टि से अनीतिमान कार्य हो, वह दोनों में प्रवर्तमान होता है। उसके लिए तो उस-उस कार्य के पीछे का प्रेरक भाव, हेतु वही उसका मापडंडा होता है। कार्य के पीछे का भाव शुद्ध हो, हेतु उच्च हो तो स्थूलरूप से चाहे वह कार्य जगत की दृष्टि से अनीतिमान हो या लगता हो उसकी उसे कोई परवाह होती या रह नहीं सकती। उसे कुछ प्राप्त करने का नहीं रहा है। इससे उसके मन नीति और अनीति दोनों समान मूल्य के हो जाते हैं।

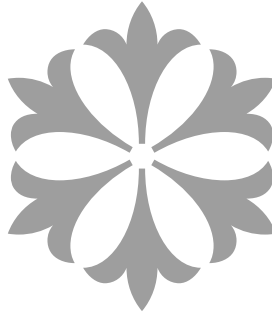
मुक्तों के प्रकार शास्त्रों में जो वर्णित हैं, वह भी चार प्रकार के हैं।—  
 (१) जड़वत् (२) पिशाचवत् (३) बालवत् (४) हंसवत्। उसमें पिशाचवत् एक ऐसा प्रकार है कि उसकी रीतिनीति शायद ही जगत अपना सके या सह सके। फिर भी वह मुक्तात्मा का प्रकार है, यह हमें भूलना नहीं चाहिए। पिशाच के अनुसार वर्तन करने पर भी वह आत्मा मुक्त हो सकती है। यह कथन शास्त्रोक्त है, आध्यात्मिक मार्ग पर स्वीकार्य किया गया है। ऐसा मुक्त अकारण लोगों को पत्थर मारे, डंडे मारे, गालियाँ भी देवे, बीभत्स गालियाँ भी देवे, चेष्टा भी बीभत्स हो, रंगढंग भी वैसे ही, बुरा भी बोले, सच भी बोले, झूठ भी बोले। झूठ और सच वे तो सापेक्ष पद हैं, relative terms हैं। प्रभु तो झूठ में भी रहा है, “ जुए में भी रहा है” ऐसा गीतावाक्य है। ऐसे ही किसी कारण से ही ‘गुरु करे वह नहीं करना, कहे वह करना’ ऐसा शिष्य के लिए कहा गया है। मनुष्य की विविध कक्षा में आध्यात्मिक सत्य नए नए रूप लेता है। सत्य भी सापेक्ष है। एक कक्षा के लिए का सत्य दूसरी कक्षा के लिए असत्य हो सकता है। There is no Universal truth for all — एक के लिए जो सत्य है, वह दूसरे के लिए असत्य भी हो सकता है। इसीलिए आध्यात्मिक मार्गदर्शन में कोई सार्वत्रिक नियम सबके लिए एकसमान लागू करने में नहीं आ सकता है। लागू कर भी नहीं सकते। इसी अर्थ में पूज्य श्रीमोटा कई बार कहते हैं कि मेरे पास साधना का कोई ready made prescription नहीं है। श्रीकृष्ण भगवान के जीवनचरित्र का इस बारे में उल्लेख किया जा सकता है सही। इसी कारण से श्रीकृष्ण के चरित्र को अलग-अलग लेखक अलग-अलग प्रकार से समझे हैं और विविध टीकाएँ उन पर लिखी गई हैं। फिर भी वे पूर्ण पुरुषोत्तम माने जाते हैं। कृष्णचरित्र उनके समकालीन लोगों, उनके कुटुंबियों जैसे ही किसी कारण से नहीं समझ सके थे। इसलिए ही यादवों पर उनका प्रभाव नहीं पड़ा होगा। कृष्ण को पहचाननेवाले उँगलियों पर





गीने जा सके उतने उनके काल में मौजूद थे। (गोपियों की बात अलग है। क्योंकि गोपियों ने बुद्धि से नहीं, किन्तु हृदय से कृष्ण को पहचाना था।)

ऐसे कारणों से मुक्त का निकट का संपर्क पचाना, पहचानना और जीवन में कामयाब होते करना अति मुश्किल भी होता जाता है। इसका अर्थ कोई ऐसा ना करे कि वे पूरे अनीतिमान हैं, किन्तु हमारी समझ ऐसे और इतने मजबूत चौखट में फँस गई होती है कि हमारे लिए उसकी अवगणना करके ऊर्ध्वरूप से देखना और समझना मुश्किल हो जाता है। इसके लिए उत्तम वस्तु यह है कि मन को नीरव बनाने की कोशिश करते जाना। साधना में जोरदार रीति से प्रवृत्त रहना। मन नीरव होते ही किसी के भी वर्तन के बारे में ज्यादा विचार नहीं उठेंगे, न्याय करने नहीं बैठ जायेगा। किसी के भी कार्य के पीछे का भाव दूसरा मनुष्य किस प्रकार पहचान सकता है ? **कार्य एक का एक हो। उसकी पेशी एक ही प्रकार से हो, फिर भी कर्म के पीछे धड़कता भाव और हेतु के कारण से उस-उस कर्म का मूल्य बदल जाता है।** इस समझ का अनुभव करना और जीवन में दृढ़ करना वह भी एक बड़ा कार्य हो सकता है। मुक्त के निकट के संपर्क में आने का सद्भाग्य मिलने पर ऐसे प्रसंग अपनेआप साधक को आकर मिलते रहते हैं।



## २१. योग्य आदरमान

पूज्य श्रीमोटा में किसी भी व्यक्ति का सम्मान करने की अनोखी कला थी। जहाँ जिसे जितना योग्य सम्मान मिलना चाहिए, उतना वे देते ही थे, उसमें कहीं क्षति या चूक नहीं रहती थी। यह मैंने अनेक बार और अनेक स्थानों पर अनुभव किया है।

१९६१ में पूज्य श्रीमोटा के छोटे भाई मूलजीभाई की बेटी की शादी थी। सामान्य रीति से हिंदू कुटुंब में विवाह के प्रसंग पर कन्या के मामा का महत्त्व का स्थान होता है। गणेश-स्थापना के दिन सुबह जल्दी हम पूज्य-श्रीमोटा के साथ मूलजीभाई के वहाँ गये। कन्या के मामा पूज्य के प्रशंसक थे। आर्थिकरूप से और सामाजिक दृष्टि से सामान्य स्थिति के कहे जा सकते हैं। पूज्य श्रीमोटा के लिए गादीतकिये की बैठने की व्यवस्था हुई थी। वे वहाँ बैठे। कन्या के मामा सामने बिछावन पर बैठे थे। पूज्य श्रीमोटा यह नहीं देख सके। आपश्री ने मामा को मात्र अपने पास ही नहीं, किन्तु स्वयं एक तरफ सरककर उन्हें गादीकिये पर बिठाने का आग्रह किया। मामा वह स्वीकार नहीं कर सके। वे जब-जब आश्रम पर आवे या अहमदाबाद मिलने आवे, तब पूज्य के चरणस्पर्श करे और सामने ही बैठते। क्योंकि वह गुरु और भक्त के सम्बन्ध का स्थान था। यहाँ विवाह-प्रसंग में गुरु और भक्त के संबंध का स्थान ही न था। पूज्य यहाँ गुरु के रूप में नहीं आये थे, कन्या के काका के रूप में आये थे। इससे कन्या के मामा को अधिक सम्मान देने का उनका धर्म चूके ऐसा नहीं था। दूसरी तरफ मामा की भी विचित्र परिस्थिति थी। उनके दिल में से पूज्य श्रीमोटा के संबंध में गुरुपन की भावना किस प्रकार दूर की जा सकती है ! मामा पूज्य श्रीमोटा के साथ गादीतकिये पर साथ में बैठने को तैयार नहीं थे। आनाकानी बहुत की, किन्तु पूज्य ने तो उन्हें मुख्य महत्त्व के स्थान पर बिठाया ही और स्वयं थोड़े दूर सरककर पास में बैठे। यह सुभग दृश्य मुझे देखने का और अनुभव करने का मिला। इससे बहुत आनंद हुआ। दूसरे दो-तीन ज्ञाति के नेता आये, उन्हें भी गादीतकिये पर बिठाया और स्वयं बहुत ही सिफत से और सहजता से खिसकते-खिसकते हुए गद्दी के छोर पर आ गये।

यह घटना भले साधारण लगे, किन्तु साधक के मन उसका बहुत महत्त्व है। यह प्रसंग पूज्य श्रीमोटा के सूक्ष्म फिर भी सहज विवेक का योग्य उदाहरण है और हमारे लिए मार्गदर्शक है कि योग्य स्थान पर योग्य व्यक्ति





को योग्य मान मिलना ही चाहिए और वैसा हमें करना चाहिए ।

इससे विरुद्ध बाबत सोचें तो हमें कई बार अनुभव हुआ है कि जहाँ स्वयं का कुछ लेना-देना ना हो, वहाँ भी मनुष्य उसे मान-सम्मान मिले वैसी इच्छा रखता है । कोई बड़ी संस्था का मुखिया, राजकीय पक्षों के बड़े नेता, मिल एजन्ट हो उन्हें अपनी-अपनी संस्थाओं की सभाओं में, उस वातावरण में मान-आदर का स्थान मिले वह योग्य है और समझ में आवे वैसा है । किन्तु जब उस वातावरण से दूसरे ही वातावरण में वे उपस्थित हो, जहाँ उन्हें थोड़ा कोई सीधा संबंध ना हो, वहाँ यदि उन्हें वैसा स्थान ना मिले तो उन्हें थोड़ा भी रंज नहीं होना चाहिए । फिर भी अनुभव से देखा गया है कि ऐसी जगह पर उन्हें अग्रभाग में स्थान न मिलने पर उनमें क्रोध, दुःख और कडुआहट फैल जाती दिखती है ।

मानवमात्र में यह देखने को मिलता है । क्योंकि यह मानवसहज निर्बलता और न्यूनता है । सामान्य रूप से ऐसे व्यक्ति के बारे में होता है ऐसा कि वे अपने वृत्त के वातावरण में अग्रस्थान पर होने से जहाँ जाते हैं, वहाँ भी उन्हें अग्रस्थान मिलना चाहिए ऐसी उनकी आंतरिक इच्छा होती है, किन्तु यह मनोवृत्ति योग्य नहीं है । हमें यह समझना चाहिए कि जहाँ हमें कोई संबंध न हो, वहाँ हमारा स्थान दूसरों के समान ही होना चाहिए । ऐसे संजोगों में हमें बिलकुल पीछे की पंक्ति में बैठने से संकोच न होना चाहिए । हम हमारे वर्तन का सूक्ष्म अन्वेषण करेंगे तो मालूम पड़ेगा कि कथावार्ता में गये हों और वहाँ जाने में यदि हमें देर हो गई हो, तो भी हम आगे की पंक्ति में अग्रस्थान पर जाने का प्रयास करते हैं । बिलकुल सामान्य मनुष्य की तरह और सामान्य मनुष्य के साथ बैठने में मानो हमारा दरजा कम हो गया लगता है । यह किसी प्रकार से योग्य नहीं माना जा सकता । हमारे वातावरण में हम चाहे जितने बड़े हों, किन्तु दूसरे वातावरण में तो सामान्य ही हैं वैसा भाव होना चाहिए । हमें सतत याद रखना चाहिए कि शादी की बारात में दूल्हे को ही दूल्हेराजा कहा जाता है और उस प्रकार सम्मान किया जाता है । स्वयं राज्य के राजा का स्थान भी उस जगह दूल्हेराजा से अधिक नहीं हो सकता । वैसे ही किसी कारण से दूल्हेराजा नाम रखा गया होगा ! वह तो जो हो वह, किन्तु हमारे में इतना योग्य सूक्ष्म विवेक उत्पन्न होना और दृढ़ होना ही चाहिए कि जहाँ जिसे योग्य आदर मिलना चाहिए, वह देते हुए हमें बिलकुल भी संकोच नहीं होना चाहिए, इतना ही नहीं, किन्तु जहाँ हमारा लेना-देना ना हो, वहाँ मान मिलने की इच्छा भी पैदा नहीं होनी चाहिए ।





सूरत आश्रम में सरकारी नौकरी करता समाज का निम्न स्तर का एक युवान बारबार आता है। सप्ताह में तीन-चार दिन आश्रम में रहता भी है। जब पूज्य श्रीमोटा सूरत आश्रम में रहनेवाले हो, तब तो अचूक ही आकर रहे। उनके पिताजी का धंधा खेती का। सब्जी की उनकी बाड़ी थी। सूरत शहर में अच्छे प्रमाण में सब्जीमंडी में स्वयं ही बेचने के लिए बैठते। उस युवक के पिता जब-जब सूरत आश्रम पर आवे, तब पूज्य श्रीमोटा उन्हें “बापाजी” कहकर ही बुलावे। “कैसे हो बापाजी, सब मजे में?” ऐसा पूछे। लड़के का भाव पूज्य श्रीमोटा के लिए और आश्रम के लिए ऐसे दोनों के लिए बहुत था। इससे उसके पिता को भी पूज्य बहुत सम्मान देते हैं और वह भी ऐसा कि अनजान व्यक्ति को तो ऐसा ही लगे कि पूज्य के भी वह बुजुर्ग ही होंगे। यह है **मोटा** की सविशेषता ! उनको कई बार कहते हुए सुना है कि “मेरे भक्तमित्र के बुजुर्ग वह मेरे भी बुजुर्ग।” और इस संबंध के कारण और वैसे संबंध के नामाभिधान के साथ उनका सम्मान भी करे सही। इस प्रकार “मोटा” की ओर से सामान्य मनुष्य को भी जब ऐसा सम्मान मिले तो उसे अपने पर नाज़ क्यों न हो। फिर भी एक बाबत स्पष्ट है कि वे कुछ इस कारण से वैसा नहीं करते हैं, आपश्री तो सहजरूप से वैसा बरताव करते हैं।

इस प्रकार के सूक्ष्म विवेक को लक्ष्य में रखकर पूज्य श्रीमोटा की एक दूसरी विशेषता देखने जैसी है। जब आपश्री किसी कार में प्रवास करनेवाले हो या किसी यजमान ने ड्राइवर को कार लेकर लाने के लिए भेजा हो, तब आपश्री कार के सारथि—ड्राइवर को—अचूक सम्मान देते देखा है। ऐसे ही किसी कारण से आपश्री हमेशा सारथि के साथ ही बैठते होते हैं। सारथि को चाय-नाश्ता उसके सेठ के समान ही करावे। **आपश्री ने आश्रम में भी एक प्रथा रखी है कि भोजन के लिए सबको एक ही पंक्ति में बिठाना और सारथि की खास देखभाल रखे। श्रीकृष्ण भगवान सारथि ही थे न!**

१९६० में डाकोर से समग्र भारत के प्रवास पर जाने के लिए एक स्पेशियल ट्रेन सिर्फ किसानों के लिए जानेवाली थी। उस ट्रेन की प्रारंभविधि पूज्य श्रीमोटा के द्वारा करवाने का निश्चित किया गया था। लोग सब आश्चर्य में डूब जाय ऐसा एक अर्थसूचक कदम पूज्य श्रीमोटा ने उठाया। पहले से ही आपश्री ने पुष्पहार मँगवा के रखे हो या अपने को मिलनेवाले





पुष्पहारों का उपयोग आपश्री ने किया हो, जो भी हो, किन्तु उन्होंने जब उस स्पेशियल के इंजन ड्रायवर का पुष्पहार पहनाकर सम्मान किया और उसका बहुमान किया, तब वहाँ उपस्थित रहा हुआ समग्र रेलवे स्टाफ आश्चर्य-चकित होकर उन पर वर गया। ऐसा था सूक्ष्म विवेकयुक्त उनका अनोखापन। हम भी सतत जाग्रतता विकसित कर ऐसा विवेकपूर्ण जीवन जीए यही अभ्यर्थना।



## २२. मुक्तात्मा और समूह की उत्तेजित वृत्तियाँ

मुक्त की समझ विकसित करने के लिए बहुत से प्रसंग, घटना, परिस्थिति में वह किस प्रकार वर्तन करेगा यह जानना योग्य हो जाता है। तो ही उसका वर्तन समझने की कोई आंतरिक सूझ हमारे में प्रकट हो सकेगी। ऐसी एक परिस्थिति की कल्पना करके यहाँ चर्चा करने योग्य सोचा है। और उसमें भी सात्त्विक मनुष्य और मुक्त के बीच एक ही परिस्थिति के बारे में क्या भेद व्याप्त है, वह समझाने-समझने का प्रयास उदाहरण द्वारा करें।

एक हिंसक उत्तेजित समूह इकट्ठा हुआ है। “मारो, काटो” की आवाज आ रही है। सामान्य व्यक्ति इस उत्तेजना के प्रवाह में खींचा चला जाता है। समूहवृत्ति (mob-mentality) के साथ बैर, क्रोध की वृत्तियाँ एकरूप हो जाती हैं। समूह में सामान्य मनुष्य की विचारप्रक्रिया बंद हो जाती है। उस वातावरण में अति सूचनशील (suggestible) हो जाती है यानी एक करे वह बिना विचारे दूसरा करे। किन्तु जो साधक होगा या जीवनविकास की इच्छावाला व्यक्ति होगा, उसकी स्थिति कैसी होगी? ऐसा व्यक्ति सत्त्व में प्रतिष्ठित होने की प्रक्रिया में है। सत्त्व उसमें अग्रभाग पर है। Predominant है। समूह की वृत्ति उसे बहुत स्पर्श नहीं करेगी। और शायद ऐसा स्पर्श करे तो उसके अभिगम से अस्पृश्य रहने सदैव वह सावधान और जाग्रत रहने का प्रयास करेगा। वह जाग्रत हो जाएगा। और जाग्रत होकर समूहशाही की वृत्तियों की असर से दूर रहने सतत प्रयत्नशील बन रहेगा। उसकी उस वक्त की मनोदशा जिस प्रकार की व्याप्त है, उस प्रकार से वह मन को नीरव रखने का प्रयास करेगा। इस प्रकार उसे झुंड की वृत्ति खास स्पर्श नहीं कर सकेगी। उसका कारण यह कि समूहशाही की वृत्ति को वश होने की मन की जो भूमिका होनी चाहिए वह वहाँ नहीं है। वह भूमिका उसकी पिचलने लगी है और लय होने की दशा में है।

अब इस सात्त्विक मनुष्य की जगह—साधक की जगह—कोई मुक्तपुरुष हो तो क्या होगा? ऐसा प्रश्न हम कर सकते हैं। वह मुक्तात्मा भी समूह को देखता है। वह स्वयं समूह के बीच फँस गया है। ऐसे संजोगों में वह मुक्तपुरुष उस साधक या सात्त्विक विकास-इच्छुक की तरह ही क्या वह नीरवदशा में रह सकेगा? या समूह की असर उस पर सज्ञानपूर्वक की काबूसर होगी? जिस प्रकार इस समूहशाही वृत्ति की बात है वैसी ही



काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर इत्यादि वृत्तिओं के संबंध में भी ऐसे प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं ।

उस पर विचार करने पर हमें मालूम होगा कि मुक्तात्मा को ऐसी असर हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है । और फिर जो उस पर असर होती है, वह भी सामान्य मनुष्य से निराली प्रकार की । सामान्य मनुष्य तो अवशरूप से या परवशरूप से समूहशाही वृत्ति में खींचा चला जायेगा । मुक्त को परवशपन से कोई भी असर नहीं होगी । अज्ञानी सामान्य मनुष्य भी प्रकृतिवश होने से समूहशाही वृत्ति के अधीन होता है । किन्तु मुक्तात्मा तो प्रकृति का स्वामी है । इसलिये अपने को योग्य लगे और ठीक लगे उस प्रकार और सभानतापूर्वक, हेतु के लिए, अपनी आत्मा की प्रेरणा मिली हो तो वह झुंड में सामिल होकर दुश्मनों को काटने के लिए भी मैदान में उतरे या ऐसा भी हो सकता है कि यदि उसके आत्मा की आंतरिक प्रेरणा उससे भिन्न हो तो वह नीरव ही रहेगा । यों उस समय उसे अपने अंतरात्मा का-प्रभु का आदेश मिले और उस अनुसार जो प्राप्तधर्म लगे उस अनुसार उसका वर्तन होगा, किन्तु उसका वह वर्तन गुणों को काबू में रखकर होगा इतना निश्चित है ।

सात्त्विक वृत्तिवाला जीवनविकासवाँच्छु तो सात्त्विक गुण के वश होकर सत्त्व में व्याप्त होने के लिए तत्पर होता है । वह चाहे तो भी तमस या रजस में व्याप्त नहीं हो सकेगा । उसका सात्त्विक गुण उसे सत्त्व में ही व्याप्त करेगा । उसे समूहशाही की वृत्तियाँ असर ना भी करे । शांत रह सके, किन्तु मुक्तात्मा तो त्रिगुणातीत है, इससे समय और प्रसंग के अनुसार तीनों गुणों का आश्रय लेकर या किसी भी प्रकार से एक या दो गुणों को अग्रस्थान पर लाकर उसका उपयोग करे । हमारे पास श्रीकृष्ण का एक उत्तम उदाहरण है । श्रीकृष्ण तो योगेश्वर कहे जाते हैं । वे मुक्त थे । फिर भी आपश्री ने अर्जुन को कौरव के सामने युद्ध में प्रेरित किया । और उस प्रेरणा के प्रताप से तो “गीता” जैसा ग्रंथ भारत को प्राप्त हुआ । यों श्रीकृष्ण ने अर्जुन को रजस में व्याप्त किया । अर्जुन मुक्त नहीं था । वह तो श्रीकृष्ण का भक्त था, मित्र था, सखा था । इससे वह तो सात्त्विक वृत्तिवाला था और सत्त्व में व्याप्त होने के कारण शस्त्रों फेंक कर वह शांत होना चाहता था ।

यों देखेंगे तो मुक्त को भी प्रकृति का आश्रय लेना पड़ता है । जैसे नदी को बहने के लिए पाट आवश्यक है वैसे मुक्त को बरतने के लिए प्रकृति आवश्यक है । इससे वह प्रकृति का—प्रकृति के सभी अंगों काम, क्रोध, मद, मोह, मत्सर, रागद्वेष इत्यादि वृत्तिओं का—उपयोग करता है ।





इससे सामान्य मनुष्य को ऐसा भी लगने की संभावना है कि यह मुक्तात्मा तो प्रकृति की प्रेरणा से ही प्रेरित होता है। वह प्रकृति का स्वामी है और प्रकृति का उपयोग स्वामित्व द्वारा ही करता है, नहीं कि परतंत्ररूप से। इस बाबत का ख्याल सामान्य जीव को नहीं आता है। ऐसा मानने का कारण यह है कि उस सामान्य मनुष्य को मुक्त दशा का अनुभव नहीं होने से अपनी प्राकृत स्थिति के अनुसार मुक्त का मूल्यांकन करने का प्रयास करता है और मान लेता है कि उसके स्वयं की तरह वह मुक्त पुरुष भी वृत्तियों का गुलाम है। इस प्रकार वह मुक्त के प्रति अन्यथाभाव विकसित करता है। किन्तु हकीकत में वास्तविकरूप से ऐसा नहीं है। मुक्त हरएक बाबत से मुक्त होने से वह फिर हरएक का ईश भी है, स्वामी भी है। वह दृष्टा, साक्षी, अनुमन्ता\* और भोक्ता भी है। वह केवल साक्षी नहीं या केवल अनुमन्ता भी नहीं, स्वामी, भर्ता, भोक्ता इत्यादि भी होकर यह सब उसमें एकसाथ ही एक ही पल में है। ऐसा होने से वह अपनी अंतरात्मा के आदेशानुसार प्रकृति को मोड़ दे सकता है। इसी अर्थ में पूज्य श्रीमोटा ने लिखा है कि :-

“कार्य सब ज्ञानी, अज्ञानी किया करे गुणाश्रय से,  
दोनों के हेतु में ज्ञान भिन्न परस्पर में  
ज्ञानी अज्ञानी में मूल फर्क क्या होगा सही ?  
अनासक्त होगा पहला, दूसरे को आसक्त मानना।”

ऐसा प्रश्न उपस्थित हो कि अमुक व्यक्ति का कार्य स्वामित्व के साथ का है, और अमुक का कार्य परतंत्ररूप से है, वह किस प्रकार तय करना ? वह किस प्रकार समझ सकेंगे ?

यह एक अलग प्रश्न है। उसका जवाब यह है कि जहाँ तक मुक्त के साथ प्रेमज्ञानभक्तिभाव से हृदय की निकटता न हुई हो, वहाँ तक यह प्रश्न हल नहीं हो सकता है। वैसा प्रेमज्ञानभक्तिपूर्वक का, हृदय का ऐक्य होने पर भावभक्ति प्रकट होने पर उसका व्यवहार प्रकृतिवश है या प्रकृति से पर— उसके स्वामित्व— का है, वह अपनेआप समझ में आ जायेगा।



### २३. महारुद्र यज्ञ

सूरत के आश्रम के प्रांगण में ही एक तरफ अन्य मंदिर बना हुआ है। उसे कुरुक्षेत्र महादेव का मंदिर कहते हैं। आसपास के प्रदेश में उस मंदिर की अच्छी महिमा है। कई लोग भाव से दर्शन करने आते हैं। कभी-कभी वहाँ मेला जैसा भी लगता है। श्रावण महीने में और अधिक मास में अच्छी संख्या में दर्शनार्थियों का आना-जाना रहता है।

उस मंदिर के संचालकों ने एक महारुद्र यज्ञ करने का कार्यक्रम बनाया। सात दिन का वह निर्धारित यज्ञ था। लगभग १९६१ की यह बात है। उस समय दस हजार रुपये के खर्च का आयोजन किया था। वातावरण में एक प्रकार की भव्यता थी। उच्च स्वर से पचीस ब्राह्मण वेद की ऋचाओं का गान करते थे। यज्ञकुंड में आहुति के रूप में घी और अन्य पदार्थ डाले जाते थे, यज्ञ की ज्वालाएँ भभकती थी। पूरा दिन कोई न कोई कार्यक्रम चलता रहता था। बड़ा मंडप बाँधा गया था। सैंकड़ों लोग दर्शन करने आते थे। किसी दिन तो हजार से ऊपर संख्या चली जाती थी। बिजली की रोशनी भी प्रकाशित हो रही थी। कोई एक मोटरकार में, कई रिक्शाओं में, बहुत से तो पैदल यात्रा करके आते थे। इस प्रकार आबालवृद्ध सब कतार में आ रहे थे। लाउडस्पीकर से लोगों को विविध कार्यक्रमों की जानकारी दी जा रही थी।

ऐसे इस समारंभ का एक विशिष्ट कार्यक्रम यह था कि ऋत्विजों ने पूज्य श्रीमोटा को अत्यंत सम्मानपूर्वक आमंत्रित किया। मुख्य ऋत्विज ने पूज्यश्री को प्रमुखपद का माननीय गौरवपूर्ण स्थान देकर उनकी पूजा की, यज्ञ के यजमान दंपती ने पूज्यश्री को हार पहनाये, तिलक किये। इस प्रकार पूज्यश्री का सम्मान हुआ।

इस प्रसंग का एक विशिष्ट महत्त्व है। सामान्य रीति से हमारे सामान्य कर्मकांड में ब्राह्मणों के अलावा ऐसी अन्य जाति के व्यक्ति की ऐसी पूजा नहीं होती है। सनातनी ब्राह्मण ऐसा सम्मान ब्राह्मण नहीं ऐसी व्यक्ति को देवे वह दुर्लभ दृश्य है। यहाँ सभी मंडली के बीच सार्वजनिक रूप से पूज्य श्रीमोटा पूरे यज्ञ के अधिष्ठाता देव हो, उस प्रकार का यज्ञ-संचालकों ने और पुरोहितों ने अपना बरताव दिखाया।

पूज्य श्रीमोटा ने भी दूसरा एक अनोखा पहलू व्यक्त किया। उस



यज्ञ में आपश्री ने प्याऊ के पास बैठकर आनेवाले दर्शनार्थियों को पानी पीलाने का काम किया। आपश्री का पहनावा भी देखनेवाले को चित्रविचित्र लगे। सिर पर साफा, शरीर खुला, मद्रासी लुंगी प्रकार का कापड़ लपेट कर बिलकुल अकेले बैठे थे और पानी पीलाते-पीलाते बोलते जाते थे, “मुझे छुना नहीं, यहाँ पाई-पैसा रखते जाओ, मेरा वेतन किस प्रकार निकलेगा ? पाई-पैसा रखते जाइये” ऐसी चीखों के साथ आपश्री ने अपना अनोखा व्यक्तित्व पेश किया। पाँडवों ने राजसूय यज्ञ में श्रीकृष्ण भगवान को अधिष्ठाता देव का मुख्य स्थान देकर मुख्य अतिथि मानकर तिलक और सम्मान किया था। और उसी यज्ञ में श्री कृष्ण ने जूठी पत्तलें उठाई थी। वैसा ही इस यज्ञ में पूज्य श्रीमोटा ने अनुभव करवाया।

युग-युग में ऐसी असामान्य विविध विभूतियाँ जन्म लेती ही हैं। फिर भी उनके बीच परस्पर कई बाबतों में समानता व्याप्त होती है, वह बात निश्चित है। सामान्य रीति से उन दिनों में १९६१ में - पूज्य श्रीमोटा बहुत प्रसिद्ध नहीं थे। इससे पानी पीने के बाद आश्रम में प्रवेश करके आश्रम देखने के बाद आश्रम के अधिष्ठाता देव के दर्शन यानी कि पूज्य श्रीमोटा के दर्शन के लिए सब जगह घूमते थे, किन्तु “महाराज” तो कहीं ढूँढ़ने पर भी मिलते नहीं थे। समाज में जो परंपरित मान्यता है कि महाराज यानी कि बड़े गद्दीतकिये पर बैठे हुए, भक्तों से घीरे हुए, फूलहार से लदे हुए, ठाटबाट से शोभायमान वैसे होते हैं। ऐसे किसी महात्मा के दर्शन करने की इच्छा यज्ञ में आनेवाले और आश्रम की मुलाकात लेनेवाले भाविक जनों में हो, वह बिलकुल स्वाभाविक था। इससे ऐसी पूछताछ करनेवाले भाविक जनों को जब बताया जाय कि “महाराज तो वह बैठे, वे पानी पीला रहे हैं वे।” तब वे शर्मिन्दा बन जाय, झंप जाय, खिसियाना हो जाय।

यह मंगलकारी पुनित दृश्य लगभग ढ़ाई घंटे चला। सेंकड़ो भाईबहन उनके हाथ से पानी पी गये और उनकी स्थूल प्यास को बुझा सके। ऐसे किसी महान ठाटबाटवाले या वैराग्य और संन्यस्त से शोभित कंथाधारी संन्यासी महाराज के दर्शन करने की सूक्ष्म प्यास तो वे नहीं बुझा सके। कई दर्शनार्थी जिन्होंने पहले पूज्य श्रीमोटा के दर्शन किये थे और आपश्री को पहचानते थे, वे दूर रहकर हँसते भी थे।

पूज्य श्रीमोटा को भीड़ पसंद नहीं है। इससे इस यज्ञ के शुरूआत के दिन आश्रम के ओसारे के बगल के कमरे के दोनों तरफ के दरवाजे बंद करवा कर अंदर अकेले आराम- कुर्सी में बैठे रहे थे। लोग बाहर से ही जाली में से दर्शन करके चले जाते। मानो कि पशु-पक्षियों के संग्रहस्थान







के पिंजरे में के सिंह को देखते ना हो वैसा वह दृश्य लगता था और ऊपर-ऊपर से वह सिंह भी ऐसी भीड़ से गुस्से हो गया हो ऐसा लगता था । यद्यपि भीड़ पसंद नहीं थी, फिर भी आखिरकार सिंह ने स्वयं ही बाहर आकर दर्शन देने की यह अनोखी रीति “अस्पृश्य” रहकर खोज ली । सचमुच वह अस्पृश्य है न ! हम उन्हें कहाँ सच्ची रीति से स्पर्श कर सके हैं ?

पूज्य श्रीमोटा की एक लाक्षणिकता इन प्रसंगों में बाहर आ गई है और वह यह कि आपश्रीको किसी प्रकार का भी ओछापन नहीं है । किसी बात का संकोच या क्षोभ नहीं है, लोग क्या सोचेंगे या मानेंगे या कहेंगे उसकी परवाह नहीं है । और उनका ऐसा अभिगम एक सच्चे ऊर्ध्व प्रकार के लोकोत्तरपने का दर्शन करवाता है ।

यह ऊपर कहा गया यज्ञ कुरुक्षेत्र स्थल के शिवालय के जीर्णोद्धार के लिए आयोजित किया गया था । कुरुक्षेत्र सुप्रसिद्ध स्थल है । सूरत के उत्तर की ओर जैसे अश्विनीकुमार वैसे पश्चिम की ओर यह कुरुक्षेत्र तापी के किनारे पर है । इतना बड़ा जबरदस्त घाट है कि आज यदि वह घाट बँधवाना हो तो लाखों रुपयों का खर्च होगा । घाट बने हुए अनेक वर्ष बीत गये । इससे उसकी सीढियाँ और कटहरे इत्यादि जीर्णशीर्ण हो गये होने से पूज्य श्रीमोटा ने स्वयं पाँच हजार रुपये अपनी तरफ से जोड़कर दस हजार जितनी रकम इकट्ठी की और घाट का जीर्णोद्धार किया । उस घाट ऊपर ही कुरुक्षेत्र का शिवालय है । शिवालय के संचालकों की इच्छा उस जीर्णोद्धार के खातमुहूर्त की विधि—शिलारोपण विधि—पूज्य श्रीमोटा के शुभ हस्त से करवाने की थी । मुख्य ऋत्विज की भी ऐसी इच्छा थी । इससे आपश्री ने पूज्य श्रीमोटा को उसके लिए विनती की, किन्तु पूज्य श्रीमोटा को उस दिन बाहरगाँव जाने का पहले से तय होने से वे वैसा नहीं कर सकेंगे उस प्रकार की विवशता बताई । किन्तु उन्होंने अपनी तरफ से एक दूसरे भाई को अपना प्रतिनिधि मान कर उसके हाथ से वह विधि परिपूर्ण करने को कहा । संचालक भाईओं ने इस सूचन को सहर्ष स्वीकार किया । ऐसा सूचन का सहर्ष स्वीकार वह संचालक भाईओं का पूज्य श्रीमोटा के प्रति असाधारण भाव दर्शाता है ।

पूज्यश्री की नम्रता और साथ-साथ उग्रता दोनों के दर्शन सहज भाव से स्वीकार कर शरणागति करने में आवे तो जीवनविकास में वह अत्यंत सहायरूप बनती है ।

समर्पण और शरणागति का भाव यदि न विकसित हो सका तो सब लगभग वृथा जायेगा ।



## २४. विवाह-सगाई में कड़ी निगरानी

सूरत और वलसाड जिले में अनाविल जाति की बस्ती बड़े प्रमाण में है। तापी और वापी के बीच में अनाविल जाति बसे ऐसी लोकोक्ति भी है। इससे स्वाभाविक है कि ऐसे कई अनाविल कुटुंब पूज्य श्रीमोटा के सूरत के आश्रम के कारण से संपर्क में आये हो। ऐसा एक कुटुंब था। उस कुटुंब के एक सब से बड़े भाई थे। व्यस्क ऐसे एक बहन। उसका भी अपना संसार है। बहन-बहनोई दोनों संस्कारी और साधारणरूप से ठीक-ठीक आर्थिकरूप से सुखी। उनका डबल ग्रेज्युएट कमाता पुत्र था। उसकी सगाई की बात चल रही थी। लड़की संस्कारी, किन्तु दायजा मिले ऐसा न था। खेड़ा जिले के पाटीदारों में जैसे दायजे का रिवाज वैसा अनाविलों में दायजा का रिवाज। कन्यापक्ष को अच्छी ऐसी रकम—रोकड़ पैसे—दायजे के रूप में वरपक्ष को देनी पड़े। इस किस्से में लड़के को लड़की पसंद पड़ी। लड़की को लड़का पसंद पड़ा। किन्तु लड़की के पिता तरफ से दायजा मिलने की संभावना नहीं थी। सुधारक विचार के सामाजिक कार्यकर होने के कारण से कहो या उनकी आर्थिक स्थिति ही न थी, इससे कहो, किन्तु दायजा मिले ऐसा न था। लड़की के कुटुंब की उपजाति (जातिवालों का समूह) लड़के की उपजाति (समूह) से नीची मानी जाती थी। (यद्यपि जाति एक ही थी)। सामान्य प्रकार से ऐसे विवाहों में नैनिहाल पक्ष का अच्छा प्राधान्य होता है। उसी प्रकार यहाँ भी था। लड़के के मामा - ऊपर बताये गये कुटुंब के बड़े भाई और उनकी बहन (लड़के की माँ) दोनों इस विवाह के पक्ष में नहीं थे। इस लड़की के प्रति हुलासपूर्ण उनकी मरजी न थी। दूसरी तरफ विवाह का लगभग निश्चित हो गया था। दो-चार दिन में सगाई जाहिर होने की तैयारी थी।

ऐसे संजोगों में कुशाग्र बुद्धिवाले मामा ने सोच विचारकर अपनी बहन-बहनोई से “कुछ बक्त में मैं तय करके कहूँगा” ऐसा कहकर रुक जाने को कहा और स्वयं एक मित्र को लेकर चले सीधे लड़की के पिता के घर।

लड़की के पिता रहते थे पंचमहाल जिले में पूज्य ठक्करबापा के साथ भीलसमाज सेवामंडल में सक्रिय कार्यकर के रूप में काम करते थे। जीवन समर्पित कर दिया था।

मामा के मित्र और मामा ने तो अपने रंगढंग बदल दिये। पहनावा



बदल दिया। मित्र बने वलसाड के व्यापारी और मामा बने किसान। मामा ने तो अपने सिर पर साफा लपेट लिया था। वे दोनों कन्या के पिता के कुटुंब को पहचानते नहीं थे, किन्तु जा पहुँचे कन्या के पिता के वहाँ और कहा, “इस तरफ घास के व्यापार के लिए आये हैं। ठक्करबापा के आश्रम का नाम सुना था और आप ही आश्रम के संचालक हो, इससे हुआ कि चलो मिलते चले। इससे आपके ऊपर सिफ़ारिश की चिट्ठी लेकर पूछते-पूछते हम तो आपका आश्रम देखने आये हैं।”

दोनों का अच्छा स्वागत हुआ। इस कुटुंब से बिलकुल अनजान फिर दूर-दूर के रहनेवाले होते हुए भी उनका जो स्वागत हुआ, उन्हें जो आतिथ्य का आनंद मिला, जो सम्मान प्राप्त हुआ उससे बहुत खुश हुए।

**मामा को शौच जाने की जरूरत नहीं थी, फिर भी बहाना बनाकर पहले तो शौचालय गये। गये थे शौचालय की स्वच्छता देखने, जिससे कुटुंब के संस्कार तुरंत पहचान सको। नहाने का कमरा देखा, रंगढंग देखा, कुछ न कुछ बहाना बनाकर प्रसंग खड़ा करके कन्या के साथ सीधे परिचय में आने की कोशिश की। ऐसा करके कन्या के रंगढंग देखे, घर के वातावरण को देखा और अनुभव किया, कन्या के माता-पिता के साथ भी पलभर में मित्रता का संबंध बना दिया और बातबात में पूछ भी लिया कि इस बेटी का विवाह किया है या नहीं? पिता ने तो सरलता से जो बात थी वह कह दी। “दो चार दिन में तय होने में है। थोड़ी रुकावट है, लड़के के मामा और माँ विवाह के पक्ष में नहीं है।”**

मामा तो इस घर के संस्कार से प्रभावित हुए थे। इससे विवाह के पक्ष में आ गये। उन्होंने बात की स्पष्टता की, स्फोट किया, साफा सिर से निकाल दिया। स्वयं ही दूल्हे के बड़े मामा हैं, ऐसा जाहिर किया। इससे कन्या और उसके मातापिता बहुत खुश हुए। उनको तो “घर बैठे मानो गंगा पधारी।” मामा ने कहा, “सगाई पक्की ही है, आइये, चलिए मेरे साथ।” इस प्रकार सगाई हो गयी और शादी भी हो गई।

यह प्रसंग और कथनी कहने का मुख्य हेतु तो मामा की दीर्घदृष्टि को समझने का है। मामा की सूक्ष्म दृष्टि, कन्या के संस्कार परखने की तरकीब, हिम्मत और तत्परता अनुपम थे। इस बाबत में जो करने की जरूरत है वह करने की तंदेही और उसे अमल में लाने के ध्येय इत्यादि विशिष्ट थे। उनकी संस्कार नापने की प्रणाली, बुद्धिशाली निगाहें और सूक्ष्म विवेकबुद्धि देखकर आनंद ही होगा। अपने मत से विरुद्ध की बाबत अनुभव से देखने पर योग्य लगी तो उसे स्वीकार करने की तत्परता, मन की





मुलायमता दृष्टान्तरूप है। ऐसी खेवना, तंदेही, धैर्य के साथ चौकसी कितने माँबाप अपने संतानों के भावि संबंधों के वक्त करते हैं ? शायद एकाध प्रतिशत।

इस मामा की होशियारी को नमन करते हैं। साधक को भी ऐसी व्यवहारकुशलता प्राप्त करना जरूरी है। आध्यात्मिकता यानी व्यवहार-शून्यता यह विचार बहुत पुराना और वास्तविकता के साथ मेल मिलाने-वाला नहीं है। साधक भी अपने व्यवहार में दक्ष और कुशल होना जरूरी है।



## २५. गैबी मददें : गलत दिखकर भी मदद करना और अशिलल गालियाँ

जिसका समग्र जीवन भगवानमय बन गया हो, उसका कोई भी कार्य कहीं रुकता नहीं है। भगवान उसका जो भी हो, वह सब संभालते हैं। सूक्ष्म प्रक्रिया को यह जितने अंश में लागू होता है, उतने ही अंश में स्थूल को भी लागू होता है। अलबत्ता, वह कार्य संपन्न होने में अनेक प्रकार के निमित्त हो सकते हैं। इसी अर्थ में पूज्य श्रीमोटा बारबार कहते हैं, मेरा भगवान हजार हाथवाला है। ” अर्थात् अनेक मनुष्य द्वारा वह अनेक काम करता है। ऐसा अनुभव एकमात्र पूज्य श्रीमोटा के लिए ही सच नहीं है। अनेक भगवत्परायण संतों के जीवन का यह निष्कर्ष है।

पूज्य श्रीमोटा को भी अनेक गैबी मदद मिलती थी। अनेक प्रसंग आपश्री ने स्वयं दर्शाये हैं, किन्तु यहाँ उनके आश्रम को किस-किस प्रकार से गैबी मदद मिली, उसके अनुभव किये हुए अद्भुत किस्से में से जिसकी लोगों को ज्यादा जानकारी नहीं है, उसको उद्धृत करता हूँ।

सूरत आश्रम का निर्माण हो रहा था, तब सिमेंट की अत्यंत कमी थी। सरकारी अनुमति के लिए बहुत इंतजार करना पड़ता था और अनुमति प्राप्त जत्था भी काम के लिए पूरा न हो। बार-बार काम अटक जाय। कालेबाजार में ऊँचे दाम देने पर चाहिए जितना मिल सकता था, किन्तु पूज्य श्रीमोटा वैसा नहीं करने देनेवाले थे। किन्तु जब-जब काम अटकने की तैयारी में होता था, तब-तब कहीं से सिमेंट की मदद अचानक आ मिलती थी।

उस वक्त में पंचायती राज नहीं था। लोकल बोर्ड अस्तित्व में थे। सूरत जिला लोकल बोर्ड के उस वक्त के प्रमुख स्व. श्री प्रेमशंकरकाका थे। उन्हें और पूज्य श्रीमोटा को बिलकुल परिचय नहीं था। सूरत आश्रम के संचालक स्व. श्री भीखुकाका को और प्रेमशंकरकाका को आपस में अच्छा परिचय था। उस प्रकार पूज्य श्रीमोटा प्रेमशंकरकाका के नाम से और काम से परिचित थे। और उस प्रकार उनके पहचानवाले थे, ऐसा कह सकते हैं। किन्तु उस वक्त पूज्यश्री आज के समान (१९८० में) सुप्रसिद्ध नहीं थे, न तो उनकी कोई प्रवृत्ति प्रसिद्ध थी। इससे प्रेमशंकरकाका तो उनको नाम से भी नहीं पहचानते थे।



सिमेंट की तलाश में एक बार पूज्यश्री और स्व. भीखुकाका प्रेमशंकरकाका को मिलने के लिए उनकी जिला लोकल बोर्ड की ओफिस पर गये थे, किन्तु वे मिले नहीं थे। प्रेमशंकरकाका उपस्थित नहीं थे। वापस आने के बाद पूज्यश्री ने भीखुकाका को कह दिया, “ काम शुरू करने की तैयारी करो। अब इंतजार करने की जरूरत नहीं है। सिमेन्ट तो मिलती जायेगी।” और सचमुच बना भी वैसा ही। फूटकर - फूटकर मिलकर ३०० से ३५० बोरी प्रेमशंकरकाका के पास से उधार मिली थी। एक वक्त तो एक शिक्षण की संस्था में आवश्यकता से ज्यादा बोरे थे, किन्तु वे सीधे आश्रम को दे सके ऐसी स्थिति में नहीं थे। उसका भी समाधान आ सका। श्री प्रेमशंकरकाका ने उनके पास से उधार लेकर आश्रम को वो बोरियाँ दी और काम चल सका। इस प्रकार प्रभु किसी के हृदय में बसकर भक्त के काम अपनेआप हो जाय वैसी सरलता कर देते हैं।

दूसरा एक प्रसंग ऐसा है, जिसमें पूज्य श्रीमोटा स्वयं गलत दिखते हैं, फिर भी उन्होंने मदद की है। स्वयं गलत दिखे उसकी स्पष्टता भी नहीं की, थोड़ा संकेत किया, किन्तु फिर भी गलतफहमी चालू रही, वह चलने दी। स्पष्टता करने की कोई चेष्टा नहीं की। यह भी एक विशिष्ट वर्तनकला में समावेश पाये ऐसी बाबत है।

एक बहन को उनके मातापिता की इच्छा के विरुद्ध अपने स्वयं की पसंदगी का विवाह करना था। मातापिता का विरोध था। पिता कुछ अनुकूल होते जा रहे थे। पिता और पूज्य श्रीमोटा का संबंध था जरूर। कन्या ने पूज्य श्रीमोटा के नाम का उपयोग किया और पिता को समझाया कि श्रीमोटा उनके आश्रम पर विवाह करवाने के लिए राजी है। यह बात सत्य से बिलकुल दूर थी। पूज्यश्री के साथ बहन ने ऐसी कोई बात नहीं की थी। और पूज्यश्री ने स्वयं कभी उसे वैसा कहा या लिखा नहीं था। शादी हो भी गई और वह भी आश्रम पर ही हुई। उससे पहले उस बहन के पिता ने पूज्यश्री से ऐसा कहा था भी सही कि कन्या (बेटी) आपने यों लिखा हुआ कहती है। पूज्यश्री ने वह सुन लिया। सिर्फ इतना कहा, “ ऐसा लिखा हो, उसका मुझे ख्याल नहीं है।” पूज्यश्री कभी स्वयं सामने चलकर ऐसा न करे। ऐसा कहे भी नहीं और लिखे भी नहीं। आवश्यकता से अधिक उत्साह या हुलास करके, आगे आकर ऐसी उकसाहट या शुरूआत करने का वे करते हो ऐसा कभी नहीं देखा - जाना है।

शादी के बाद उस बेटी ने ही पूज्यश्री को लिखा कि स्वयं को सरलता हो, उसके लिए उसने पूज्यश्री के नाम का उपयोग किया था।





उस बेटी के पिताजी अभी तक भी इस सच्ची हकीकत जानते नहीं हैं। उनको तो ऐसा ही ख्याल है कि पूज्यश्री ने उसमें पहले से अपनी अनुमति दी थी। जब कि हकीकत में पूज्यश्री ने ऐसा नहीं किया था। इस प्रकार पूज्यश्री स्वयं अपने संबंध में कोई स्पष्टता करने को तैयार नहीं हुए। वह एक अनोखी घटना है। थोड़ा संकेत दिया, किन्तु वह भी नहीं देने समान ही और जो गलतफहमी पैदा हुई उसे चलने दी। जो हो रहा है, उसे होने देना, उसमें हस्तक्षेप न करना वह भी एक मुक्त पुरुष का अभिगम होता है।

एक भाई को पूज्य श्रीमोटा के साथ जुड़े हुए काफी समय हुआ है। थोड़ी बहुत साधना करने की भी उनकी इच्छा होती है, उस इच्छा का प्रत्यक्ष अमल करने का भी प्रयास करते हैं। उस भाई को पूज्यश्री के लिए भक्ति है, भाव है। कभी-कभी आश्रम में एक-दो दिन आकर रह भी जाते हैं। जप भी ठीक-ठीक प्रमाण में करते हैं। आश्रम में आवे, तब उनके जप सतत चालू रखने का सफलता से प्रयास भी करते हैं। उन्होंने खुले दिल से पूज्यश्री को पत्र लिखकर बताया कि मानसिकरूप से वे पूज्यश्री को अशिलल गालियाँ दिये बिना नहीं रह सकते हैं। और खास करके जब वे आश्रम में आते हैं और पूज्यश्री उपस्थित होते हैं, तब यह वृत्ति ज्यादा बलवान बनती है। यों तो यह भाई संस्कारी हैं, सुशिक्षित हैं, समाज में अच्छा मर्तबा रखते हैं। पहले भी दो बार इस भाई ने इस प्रकार का पूज्यश्री को लिखा था। पूज्यश्री ने तो उस दोनों समय इस भाई के प्रति अपने भाव का विश्वास दिया था और बताया था कि उनके मन की ऐसी विकृतिवाली दशा के लिए आपश्री ने उनके प्रति अन्यथा भाव का सेवन किया नहीं है और सेवन करेंगे भी नहीं। पूज्यश्री ने तो ऐसा भी सूचन किया “यदि आपका मन दूसरे किसी आध्यात्मिक स्थल पर शांत होता हो तो मुझे छोड़ कर खुशी से दूसरे स्थल पर जा सकते हो।” किन्तु वह भाई पूज्यश्री को छोड़ कर दूसरी जगह जुड़ने को तैयार नहीं है। यह एक ऊपर की दृष्टि से समझ में न आवे वैसी घटना है। उस भाई ने उसका जो स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है, वह इस प्रकार है : “ऐसा होने का कारण मुझे ऐसा लगता है कि मेरी अपनी निम्न वृत्तियों को आपकी (पूज्यश्री की) चेतना के प्रकाश के नीचे आने का होते व्याकुलता होती है और विरोध उठाकर यों कराती है। वे निम्न वृत्तियाँ अपनी इच्छा अनुसार यथेच्छ विहार नहीं कर सकती हैं और इससे वह दम घूटने का अनुभव करके ताबे न होने के लिए अधीरता करती रहती है। इससे ऐसा होना संभव है।”

इस भाई का ऊपर का स्पष्टीकरण कुछ अंश में तार्किक और





प्रतीतिजनक है। उसमें तथ्य का अंश भी होगा। हमें तो एक वस्तु के लिए सभान होना है कि प्रकृति की चालबाजी अनंत होती है।

लगभग ऐसी ही किन्तु इससे भी शायद ज्यादा उग्र प्रकार की घटना वर्षों पूर्व एक दूसरे युवक भाई के संबंध में भी हुई थी। वैसे तो वे संस्कारी, विद्वान, अच्छे पढ़े-लिखे, समाज में मान-सम्मान और अग्रस्थान रखनेवाले होते हुए भी उनके मन की विकृति इस प्रकार व्यक्त हुई थी। उन्हें भी पूज्य श्रीमोटा ने लिखकर अभय वचन दिया था, “मेरे आपके प्रति के भाव में थोड़ी भी कमी नहीं आयेगी।” और वास्तव में पूज्यश्री ने अपना प्रेम सतत गंगधारा की तरह उन पर बहाये रखा था।

इस पर से फलित यह हुआ कि **पूज्यश्री से जुड़कर रहने के लिए जो जरूरी है, वह तो हमारा भाव। मन के लक्षण तो उलट-पुलट होते जायेंगे। उसके साथ पूज्यश्री को संबंध नहीं है। सिर्फ भाव एक ही उन्हें आकर्षित रखने का बलवान साधन है।**





## २६. बोओ वैसा काटो

हमारे में कहावत है कि “ बाजरा बोक र गेहूँ की आशा नहीं रख सकते । ” और जो कोई ऐसी आशा रखे तो वह मूर्ख माना जायेगा । बबूल के नीचे बैठकर आम नहीं प्राप्त कर सकते हैं । जो बोओगे वह पाओगे । दूसरा नहीं पा सकोगे । यह हकीकत हमारे जीवन में अनेक क्षेत्रों में लागू हो सकती है । “जैसा बोओ वैसा काटो । ”

यह बाबत मनुष्य की दान की वृत्ति को यदि लागू करें तो एक ऐसे तार्किक निर्णय पर आ सकते हैं कि धन दान में देकर आत्मा का पूरा कल्याण प्राप्त करने की खेवना वह बेसमझ है । **हाँ, अलबत्ता, ऐसा कह सकते हैं कि यदि आप धन दोगे तो धनसंग्रह की वृत्ति उतनी कमजोर पड़ेगी वही मुख्य लाभ ।** यदि जागृति हो तो जिसे दान दिया हो, उसके प्रति भाव उत्पन्न हो, आसक्ति पैदा हो या राग पैदा हो । इससे विशेष कुछ नहीं । कोई कसरत करनेवाला हाथ के मसल्स की कसरत करके पैर के मसल्स में परिणाम देखना चाहे तो कैसा माना जायेगा ! इसके जैसा इसमें भी है । इससे तात्त्विक रीति से कहें कि जिस वृत्ति में विकास करने का प्रयत्न करो उसमें विकास हो । जिस वृत्ति में पीछे हटना करो उसमें पीछे हटेंगे । किन्तु एकाध वृत्ति की उस असर के कारण व्यक्ति के समग्र आधार में असर नहीं हो सकती है । “पाप” और “पुण्य” के बारे में भी ऐसा ही लगता है । जिस जमाने में समाज ज्यादा मेहनत ऐसे नैतिक सिद्धांतों के साथ नहीं करता होगा और आदेशात्मक सूत्रों का अमल आसानी से कर सकता होगा, उस काल में अमुक कार्य वह “पाप” और अमुक कार्य वह “पुण्य” ऐसी समझ रची होगी । स्वर्ग और नर्क की कल्पना के लिए भी ऐसा ही होगा । बाकी स्वर्ग हमारे में है और नर्क भी हमारे में है । ऐसे दान इत्यादि जैसे सामाजिक भय या इनाम की लालच से प्रेरित होकर होनेवाले कर्म थोड़ासा लाभ भले करते हो, किन्तु उससे संगीन लाभ होना कठिन है । प्रभु के दरबार में कुछ भी मुफ्त में नहीं मिलता है । हर एक वस्तु का मूल्य चूकाना पड़ता होता है । जो प्राप्त करना हो, उसमें पुरुषार्थ-प्रयत्न करना पड़ता है और वही वस्तु मिलती है, दूसरी नहीं ।

प्रभु के वहाँ बही लिखनेवाले या रखनेवाले कर्मचारियों की पंक्तियाँ नहीं हैं कि आपने इतना शुभ कार्य किया वैसी जमानोंध हो और



इतना यों विपरित काम किया उसकी उधारनोंध हो । जो कुछ जमा-उधार होता है, वह तो प्रत्यक्ष-तत्काल तुरंत और तुरंत हमारे मन, चित्त पर उन कार्यों से पड़ते संस्कार से हो जाते हैं । उसमें एक पल का भी विलंब नहीं होता है । तुरंत ही रेकोर्डिंग हो जाता है । प्रभु तो प्रत्यक्ष उपस्थित है । वहाँ कुछ उधार नहीं रह सकता या नहीं कुछ जमा रखा जाता है कि जिससे बाद में उसकी खतौनी हो और आखिर की संख्या देखी जा सके । वहाँ तो हमारी अपनी वृत्तिओं के विकास में या पीछे हटने में जमा या उधार रीति का बदला तुरंत ही मिल जाता है । इससे हम इस जन्म में ऐसा करेंगे तो ऐसा और वैसा करेंगे तो वैसा, इसके बाद के जन्म में मिलेगा वैसी सुखद कल्पनाओं में राचकर ठाटबाट से खुशी में इधर-उधर टहलने का कोई अर्थ नहीं है । इस जन्म में पुण्यदान धन से करेंगे तो आनेवाले जन्म में लक्ष्मी भगवान देंगे उस कल्पना में राचने में कोई यथार्थता नहीं है ।

मनुष्य का सच्चा विकास नये-नये और अलग-अलग अनुभव प्राप्त करने में और उसमें से प्रगतिसाधक तत्त्वों को आत्मसात् करने में रहा हुआ है । जैसे लोहे को चारों तरफ से ऊपर-नीचे से गरम कर-करके, टीप-टीप कर मजबूत बनाया जाता है वैसे ही मनुष्य को मुक्त की दशा में पहुँचने के लिए सभी प्रकार के और सब रीति के अनुभवों में से गुजरना पड़ता है । श्रीमंताई या गरीबी, सत्ता के स्थान के या क्षुद्र सेवक के, पंडिताई के या निरक्षरता के ऐसे अनेक विविध द्वंद्वों की स्थिति के अनुभवों में से गुजरते-गुजरते और जीवन को गुणविकास, भक्ति और ज्ञानयोग की भूमिका में आयोजित करते-करते आगे बढ़ने का है । यह सब हम बराबर समझें तो फिर कर्म के बदले की स्थूलरूप से आशाअपेक्षा नहीं रहेगी । पूज्य श्रीमोटा कहते हैं कि, “ जो कुछ करो वह आत्मा के विकास के लिए अपने लिए ही करो । ” इसका अर्थ ऊपर बताये गये विचारों के अनुसार ही माना जा सकता है । यह सतत याद रखना चाहिए कि हमारे सभी कर्मों की असर हमारे पर तुरंत और तुरंत होती है । उसका हिसाब और फँसला तुरंत ही मिल जाता है । उसका सामाजिक परिणाम भले देर से और बाद में योग्य या अयोग्यरूप से मिले । वह तो लौकिक घटना है । हमारे कर्मों का न्याय तौलनेवाली कोर्ट तो हमारे अपने अंदर चौबीसो घंटे काम करती खड़े पाँव मौजूद है । जैसे दृश्यों को पकड़नेवाले केमेरा में एक पल में दृश्य साकार हो जाता है, उसके समान ही लगभग हमारे चित्त के केमेरा का है — संस्कार का है । और मानव मन तो संस्कार का पोटला है । उसकी प्रकृति वह ऐसी आदतों से बैंधी हुई किसी गूढ़ अगम्य वस्तु है । हमारा प्रभु, हमारी आत्मा,





सदैव जाग्रतावस्था में तुरंत और तुरंत कर्मों का बदला देने के लिए जाग्रत हमारे हृदय में ही बिराजमान हैं। “गोडकोनश्यसनेस”, “प्रकृति का रूपांतर” “प्रभुदर्शन”, “आत्मसाक्षात्कार” आदि शब्दसमूह एकदूसरे के पर्याय अर्थात् समान अर्थ जैसे हैं। हमें जो प्राप्त करना है, वह यह है। फिर उसे किसी भी नाम से पहचानो या पहचान कराओ। परिणाम निश्चित एक ही तत्त्व का है।

कर्म और विचार दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। दोनों की असर और संस्कार चित्त पर अंकित होते हैं। एक है स्थूल और दूसरा है सूक्ष्म। दोनों जो इच्छा करें वह स्वर्ग या नर्क उत्पन्न कर सकें वैसे हैं।

अध्यात्म के मार्ग पर जाने की इच्छा रखनेवाले ऐसी सब समझों का सूक्ष्मता से अभ्यास करके उसे अपना बनाने की जरूरत है। अलबत्ता, कोई अपवादजन्य विरल वीर को ऐसी किसी जरूरत न पड़ते हुए सड़ासड़ तीर के समान सोचे हुए लक्ष्य पर पहुँचना संभव हो सकता है। किन्तु ज्यादातर साधकों के लिए ऐसी समझ विकसित करना वह साधना के एक अंग समान बन जाना चाहिए।



## २७. मुक्त और चेतनाशक्ति का प्रदान

भारत देश की संस्कृति प्रायः आध्यात्मिक परंपरा से रंगी हुई है। बचपन से ही हम अनेक साधु, संत, संन्यासी इत्यादि की बातें सुनते आये हैं। जीवनविकास के प्रति जब कदम बढ़ाने का प्रयास बहुत समझपूर्वक और अदम्य जिज्ञासा से करना शुरू करते हैं, तब इस परंपरा के सच्चे झूठे अनेक प्रकार के संस्कार चित्त पर अंकित हो गये होते हैं। ऐसे संस्कार हमारे मन को कई बार गंदला भी करते हैं और उतने अंश में हमारे विकास में अवरोध, रुकावट पैदा होती है। इससे इन सब चित्त के संस्कारों और विचारों के सच्चे झूठे का विवेकपूर्ण रीति से ज्ञानभक्तिपूर्वक हिसाब मिलाकर कई गलत ख्यालों को निर्मूल करके, कइओं के बारे में पूरी स्पष्टता कर लेना जरूरी है। जहाँ-जहाँ मौका मिले, निमित्त मिले कि वह कार्य करना साधक के लिए इष्ट है।

ऐसे संस्कारों में मुक्तात्मा के बारे में भी कई ख्याल होते हैं। बचपन से सच्ची या गलत रीति से हम सुनते आये हैं कि अमुक साधु ने, अमुक संत ने अपने देह का त्याग करते समय अपनी शक्ति का प्रदान अमुक शिष्य को किया। इसमें से प्रश्न पैदा हो कि मुक्तात्मा अपना स्थूल देह त्याग करता है, तब अपनी आत्मचेतनाशक्ति वह जिसे देना चाहे उसे दे सकता है क्या ?

मुझे लगता है कि सामनेवाली व्यक्ति में भूमिका तैयार हुए बिना चाहे जैसे समर्थ मुक्तात्मा भी दूसरे को वैसा प्रदान नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए रामकृष्ण परमहंसदेव वे अत्यंत शक्तिशाली थे। फिर भी वे विवेकानंद को वैसा प्रदान नहीं कर सके थे। जो प्रदान किया था, उससे तत्काल चेतन का अनुभव करा सके थे। किन्तु वह अनुभव स्थिर नहीं हुआ था। और इससे श्री विवेकानंद को परमहंसदेव के स्थूल देह-त्याग के बाद बनारस तरफ के वृद्ध हठयोगी पवहारीबाबा या ऐसे मुक्त के पास रहकर उनकी विद्या सीखने की तीव्र इच्छा हुई थी और उनके पास से मुक्त होने की आशा-इच्छा की थी। श्री विवेकानंद की भूमिका तो बहुत उच्च प्रकार की होते हुए भी यों चेतनाशक्ति स्थिर नहीं हो सकी थी, वह हकीकत है।

एक छोटे से व्यावहारिक दृष्टांत द्वारा यह बात तुरंत स्पष्ट हो जायेगी। कोई धनवान व्यक्ति अन्य कोई व्यक्ति को आकस्मिक और



एकाएक दस लाख रुपये दे देवे, किन्तु उस व्यक्ति में उसे सँभालने की निपुणता न हो तो गँवा ही देगा। वैसा चेतनाशक्ति का भी है। भूमिका पके बिना किया हुआ प्रदान नहीं टिक सकता। इसीलिए एक भक्त कवि ने गाया है : “ उत्तम वस्तु अधिकार बिना मिले, फिर भी अर्थ नहीं निकलेगा। ”

जनसमाज में इस बारे में ऐसी जोरदार मान्यता प्रचलित है सही कि अंतिम समय में मुक्त या संत-साधु अपनी शक्ति अपने सेवक को या किसी भी साधक को देते जाते हैं। यह मान्यता ठीक नहीं है, वास्तविक नहीं है। चेतनाशक्ति वह कोई जड़ या स्थूल वस्तु नहीं है कि वह दी जा सके। “स्वयं मरे बिना स्वर्ग नहीं जा सकते हैं,” यह इस मार्ग का मुद्रालेख है। जो सेवक ऐसी ही किसी आशा-अपेक्षा के साथ मुक्त से जुड़ा हुआ रहा होगा तो उसे उस बाबत में निराशा ही मिलेगी।

**मुक्त का संपर्क तो हमारे में आध्यात्मिक विकास के लिए की भूमिका तैयार करने के लिए है। उसके लिए की जरूरी सभी सहाय और मदद प्राप्त करने के लिए है।** उसके लिए ही यह संपर्क होना चाहिए। उसमें किसी प्रलोभन को अवकाश न हो, आशा-अपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

**साधना की नींव है हमारे में कामनारहितपन और समता। यह कामनारहितपन सिर्फ स्थूल बाबत के प्रति नहीं, किन्तु सूक्ष्म और आध्यात्मिक बाबत के प्रति भी होना चाहिए।**

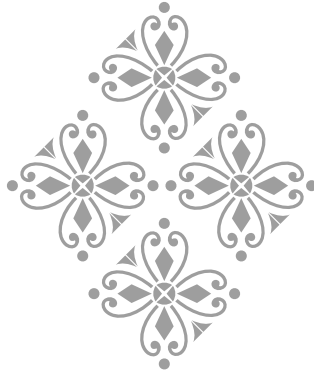
हमारे में आध्यात्मिक विकास की क्रमशः भूमिका तैयार होती रहे इसके लिए मुक्त की सेवा है। मुक्त का संपर्क चित्तशुद्धि का विकास करने के लिए हो तथा प्रभुस्मरण में लगन लगाने के लिए हो। इस सेवा द्वारा तो हमें शरणागति विकसित करनी है। गुरु उस दीपक के समान है जो दीया प्रगट करने का साधन बन सके। किन्तु रुई और तेल तो हमें हमारा ही प्राप्त करना पड़ेगा। हमारे कसोरे की सभी सामग्री हम स्वयं पूरी करें और बाती बुनकर तेल में भीगे होकर कसोरा तैयार होकर गुरुरूपी दीये के पास उसके संपर्क में आवे तो किसी धन्य पल में हमारी बाती की धार उस ज्योत को छुकर ज्योत प्रकट होगी। वह भी तेल इत्यादि से तैलयुक्त बाती बनी होगी तो।

एक दूसरी संभावना है, मुक्त का स्थूल देह ना हो, तब उसकी सूक्ष्म असर साधक को या भक्त को स्पर्श कर सकती है और वह भी तब ही संभव हो सकता है कि जब साधक का प्रबलरूप से आसक्तिभरा आकर्षण गुरु के प्रति होगा, गुरु के सूक्ष्म तत्त्व के साथ लग रहा होगा। इस प्रकार ही





गुरु का तत्त्व संपूर्ण सहाय दे सकता है और दे सकेगा । शरीर की स्थूल मर्यादा दोनों पक्ष में दूर होने पर सूक्ष्म तत्त्व से ज्यादा बलवान और संगीन सहाय प्राप्त हो सकती है ।



## २८. मौनमंदिर के अनुभव

पूज्य श्रीमोटा अपने साधनाकाल में दिन दरमियान हरिजन सेवक संघ की ऑफिस का तीन व्यक्तियों के जितना काम अकेले करते थे। रात्रि दस बजे गुरु के आदेशानुसार श्मशान में चले जाते और सुबह पाँच बजे वापस आते। वे रविवार की कोई छुट्टी भी नहीं लेते थे। यों सतत रात्रि को साधना और दिन में निष्काम कर्मयोग उनका चलता रहता था। फिर भी साल में एक बार वे स्वयं को जिस प्रकार का दर्शन हो वैसे स्थलों पर एक महीने की छुट्टी लेकर चले जाते थे। घोर जंगल के एकांत स्थलों पर भी जाते थे। वहाँ जाते, तब शुरूआत में तो आपश्री को निराहार चारपाँच दिन के उपवास होते थे। उसके बाद किसी वनवासी की दृष्टि में आवे तो छाछ - रोट या ऐसा कुछ खाने का देने आवे। श्रीमोटा का अपनी इतनी सेवा करनेवाले के प्रति भी ऋणभाव रहा करता था। विवेक की दृष्टि से भी ऐसा लानेवाले व्यक्ति के साथ थोड़ी बहुत बातचीत करनी पड़ती थी। ऐसे मानवी-मानवी के बीच की आंतरक्रिया से जो खलल पैदा होती, वह आपश्री को भुगतना पड़ती थी। तब से ही आपश्री के मन में ऐसे विचार आते रहते थे कि ऐसा कोई उपाय ढूँढ़ना चाहिए कि जिसमें साधक की सभी दैनिक आवश्यकताएँ पूरी हो और फिर भी बाहर की दुनिया के साथ उसे कोई खलल पैदा करनेवाली आंतरक्रिया न करनी पड़े। ऐसे विचार में से मौनमंदिर का जन्म हुआ। अंदर ही शौचालय और स्नानगृह, चौबीस घंटे पानी और बिजली के साथ उस अंधेरे कमरे में अंदर और बाहर दोनों तरफ खुल सके वैसे खिड़की द्वारा सब व्यवहार हो और वह भी एकदूसरे को देखे बिना।

ऐसे मौनमंदिर का भारत में कहीं अस्तित्व हो वैसे ख्याल नहीं है। उस दृष्टि से यह मौलिक और अनोखे हैं।

यह मौनमंदिर शुरू होने के बाद वे मात्र साधकों की स्थूल आवश्यकता पूर्ण करनेवाली सुविधा ही नहीं रही है। साधकों को पूज्य श्रीमोटा की चेतना का सहारा उसमें मिलता है और उसे विकासप्रेरक वातावरण प्राप्त होता है।

ऐसे ही अनोखे मौनार्थियों के अनुभव हैं। हरएक मौनअवधि पूर्ण होने के बाद साधक को अंतिम दिन उनके अंदर के अनुभवों का वर्णन करनेवाला निवेदन लिखने का कहने में आता है। ऐसे निवेदनों में से



साधकों को जो चित्रविचित्र अनुभव हुए हैं, उसका सार निकाल कर कुछ लाक्षणिक अनुभव यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ। किन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि हरएक को ऐसा अनुभव होगा ही। परस्पर विरोधी ऐसे अनुभव भी हैं, जबकि कइओं को कोई विशिष्ट अनुभव नहीं हुए हैं, हरएक की अपनी-अपनी आंतरिक स्थिति में जो-जो अनुभव की आवश्यकता होगी, उसके अनुसार वे होते रहते हैं। इससे उस अनुभव के आधार पर किसी को भी अपने बारे में ऐसा होगा ऐसा संदेह या शंका उत्पन्न करना योग्य नहीं है।

(१) तीन से चार भाईओं को मौनअवधि दरमियान मूत्ररेच हुए थे। हर १५-१५ मिनट पर पिशाब करने जाना पड़ता था और पिशाब होता भी था। दिनभर में २५-३० बार पिशाब होता था। और कई बार उससे ज्यादा बार भी होता था। फिर भी बाहर आने के साथ ही वह घटना अदृश्य हो जाती थी।

(२) उससे विरुद्ध का एक उदाहरण ऐसा है कि एलोपेथी का आधुनिक मेडीकल सायन्स पढ़े हुए एक भाई को उनके सात दिन की मौनअवधि दरमियान न तो पिशाब हुआ या न तो शौच हुआ। शौच-पिशाब बिलकुल नहीं होता था। फिर भी वे दोनों वक्त भोजन ले सकते थे, चाय भी दोनों वक्त लेते थे, पानी भी पीते थे। अलबत्ता, एक नया लक्षण प्रकट हुआ था कि उन्हें पसीना बहुत होता था, किन्तु पसीने मात्र से कुदरती हाजत बंद नहीं हो। डॉक्टर को तीसरे दिन केथेटर रखकर पिशाब करवाने की इच्छा हुई थी। उतना वे उसके विचारमात्र से घबरा गये थे। किन्तु एक विशिष्टता तो यह थी कि वह सब बंद हो जाने से न तो उनको पेडू में कोई भार या न तो कोई दर्द था। उनको स्वच्छता बहुत ही पसंद थी। इससे शौचालय का टब और वोशबेझिन साफ करने के लिए विभटोजीन पावडर का डिब्बा साथ में लेकर बैठे थे। हररोज शौचालय का टब साफ करे, किन्तु एक भी दिन उनके उपयोग में नहीं आया। सातों दिन टट्टीपिशाब बंद। भोजन, पानी हररोज के मुताबिक लेते थे। मौन में से बाहर आने के बाद दो ही घंटे में छूट से टट्टीपिशाब हुए। सामान्य रीति से तो ऐसी घटना के बारे में मान नहीं सकते। यदि कोई अनपढ़ ग्रामिण व्यक्ति कहे तो हम अनेक प्रकार की शंका करेंगे, किन्तु यह तो पश्चिमी मेडिकल सायन्स एलोपेथी के अभ्यासी डॉक्टर का ही अनुभव है।

(३) दूसरे एक प्रसंग में एक भाई को उससे बिलकुल विरुद्ध अनुभव हुआ था। बिलकुल उसके विरुद्ध कि जितने दिन अंदर रहे, उतने दिन, दिन में कई बार शौच जाना पड़ता था।







(४) गरमी के दिनों में पानी की शरीर को कितनी जरूर पड़ती है उसके बारे में संदेह नहीं है। बारबार प्यास बुझाने के लिए पानी पीना पड़ता है। तब एक भाई मौन में तीन दिन के लिए बैठे, तब उन्होंने एक बूंद भी पानी नहीं पीया। चाय, कोफी, इत्यादि कुछ भी नहीं लेते थे। भोजन नियमित लेवे फिर भी पानी की जरूरत ही न पड़े। बाहर आने के बाद पानी पीने की जरूरत हुई और पीया।

(५) जिन दिनों में नडियाद के मौनमंदिरों में बिजली नहीं थी, तब अंदर दीया नहीं देते थे। इससे बैटरी का उपयोग करना पड़ता था। एक भाई उस वक्त अंदर बैठे थे। स्वयं सुशिक्षित। उनको अंधेरे में सतत प्रकाश दिखता था। उस भाई को अंदर एक कार्ड पढ़ने के लिए दिया था। बिना बैटरी के सहारे वे उसे पढ़ सके थे। पूज्य श्रीमोटा के फोटो के सामने वे देखते तो प्रकाश प्रकाशित होते अनुभव करते। अंधेरे में चलने का होने पर रात को भी आँखों से देख सकते और बैटरी के जो दो सेल लेकर वे अंदर बैठे थे, वे वैसे ही उपयोग किये बिना बाहर लाये थे।

(६) एक व्यापारी भाई कि जिसे “इस” मार्ग का कोई मन का भाव या सूझ नहीं थी, तीन दिन के लिए नवीनता से प्रेरित होकर मौन में बैठे। उन्हें प्रकाशित होता प्रकाश, छोटी पहाड़ी पर प्रकाशित असंख्य दीये की पंक्तियाँ इत्यादि दिखाई देती थी। प्रकाश के अनुभव तो दूसरे बहुतों को हुए हैं।

(७) एक बहन को स्वच्छता की बहुत ही सावधानी। उनके ही कमरे में उनसे पहले बैठे हुए एक भाई को एक भी खटमल का अनुभव नहीं हुआ था। जबकि इस बहन को असंख्य खटमलों से उनका बिस्तर उमड़ गया लगता था। इसके कारण वे सो भी नहीं सकते। इससे वे परेशान हो गये थे। किन्तु परम आश्चर्य की बात कि उनके बाहर निकलने के बाद जो उनके ही कमरे में बैठे उनको ऐसा कोई अनुभव नहीं हुआ।

(८) एक बहन को मौन में ऐसा अनुभव भी हुआ कि उनका झूला कोई जैसे लगातार झूला रहा हो।

(९) एक भाई पूज्य श्रीमोटा के साथ १९४६ से संपर्क में आये थे। विज्ञान के स्नातक, कोई भी बात ऐसे ही श्रद्धा से मात्र न मान लेवे। तर्क की सान पर चढ़ाकर कर ही बाद में माने। जब नडियाद में सब से पहले एक ही मौनमंदिर का कमरा था, तब वे मौन में बैठे थे। उस कमरे के अंदर नडियाद आश्रम शुरू होने से पहले जो कबीरपंथी साधु थे, उनके आदिगुरु की समाधि है। आखिरी साधु के गुरु ने मरते वक्त इच्छा व्यक्त की थी कि उसे





कोई तोड़े - फोड़े नहीं, खंडित ना करे। उस भावना को मान देते हुए पूज्यश्री ने उस समाधि का मौनरूम में ही समावेश कर दिया था। मौनार्थी उसका चबूतरा के रूप में उपयोग कर सके। यह भाई चबूतरे पर सोये थे और चबूतरा ऊपरनीचे हिला था। वे आधुनिक जमाने के वैज्ञानिक मानसवाले होने से वे नहीं मान सके, इससे उन्होंने चौकसी करके देखा, किन्तु वही अनुभव। पूज्य ज्ञानदेव महाराज ने चबूतरा चलाया था। वह उन्हें याद आया।

(१०) अत्तर की या फूलों की खुशबो-सुगंध आया करती है वैसा अनुभव तो बहुतों को हुआ है।

(११) कई व्यक्तियों को अपने पुराने संस्मरण मौनअवधि में जाग उठते हैं। कई वर्षों तक जो स्मृतिर्या काल के गर्त में दब गई होती है, वह मौन में फिर से ताजा होती है। अत्यंत जोरदार रीति से, उसी प्रकार पुराने शारीरिक दर्द भी फिर से जाग्रत होने के उदाहरण हैं। एक भाई को पाँच वर्ष की उम्र में सिर में कई फोड़े निकले थे। वे मौन में बैठे तब पचास वर्ष पूर्व हुई उस घटना का पुनरावर्तन हुआ। सिर में असंख्य फोड़े होते ही रहे, करीब साठ दिन तक मौन में उनको जैसे फोड़ों की परेशानी रही। पूरा सिर फोड़ों से भर गया, बाल निकालकर दवाई भी लगाई, नीम के पानी से सिर धोया। फिर भी कोई सुधार नहीं हुआ। सोने के लिए, नींद के लिए सिर टिकाना भी मुश्किल हुआ, पस-खून निकले। एक-साथ दस-पंद्रह फोड़े रहा करे, मिट जाय और नये बने, ऐसी दो महीने तक परेशानी रही। आश्चर्य तो यह कि मौन में से बाहर आने के बाद अपनेआप ठीक हो गया।

(१२) एक भाई को अर्श की पीड़ा - रोग था। इक्कीस दिन के मौन में बैठते और ठीक ग्यारहवें दिन फिर से दर्द शुरू हो। बाहर आने के बाद कुछ नहीं। अट्ठाईस दिन के लिए बैठे तो पंद्रहवें दिन वह पीड़ा शुरू हुई। बयालीस दिन के लिए बैठे तो इक्कीसवें दिन के बाद वह शुरू हुई। ऐसा चार बार उन्होंने अनुभव किया। ठीक आधा समय पूरा होने पर यह व्याधि शुरू होती है और बाहर आते ही कुछ नहीं होता। इस प्रकार चार बार अपनेआप बंद हुआ। अलबत्ता, मौनएकांत के समय उन्होंने मिट्टी की पट्टी का उपयोग किया था।

(१३) एक भाई को मौनएकांत के समय दिल में ऐसा भाव आया कि उनके भाई की पत्नी की मृत्यु हो गई है और उसके शव को उन्होंने मानसिकरूप से जलते देखा। जब उन्होंने मौनप्रवेश किया था, तब तो वह बहन बिलकुल स्वस्थ थे, थोड़े भी बीमार नहीं। फिर भी उन्हें ऐसा भाव या





अनुभव हुआ। सचमुच वह बहन उसी दिनों में एकाएक मृत्यु को प्राप्त हुए थे। यद्यपि उस भाई को तो मौन में से बाहर आने के बाद ही उसकी जानकारी दी गई।

(१४) एक बहन इक्कीस दिन के मौन में बैठे थे। बैठने के बाद तुरंत ही थोड़ा-थोड़ा बुखार शुरू हुआ। लगभग इक्कीस दिन वह बुखार रहा, दवा कोई नहीं ली थी। बाहर आते ही बुखार उतर गया ऐसा मालूम पड़ा। अंदर बुखार आता, तब थरमामीटर से नापने पर सौ-एक सौ एक रहता था।

(१५) नींद नहीं आने के भी कइओं को अनुभव हुए हैं। कइओं को कई-कई दिनों को रात को सिर्फ दो तीन घंटे ही मुश्किल से नींद आती है। और ऐसे पाँच-सात-दस दिन तक रहने पर भी शरीर पर उसकी विकृत असर नहीं दिखती है। स्फूर्ति अच्छी तरह बनी रहती है। किन्तु बाहर आते ही नींद आना शुरू हो जाती है। एक बहन को कई दिनों तक बिलकुल नींद नहीं आई थी ऐसा भी अनुभव है। सामान्यरूप से नींद कम हो जाने का तो सार्वत्रिक अनुभव है।

(१६) शारीरिक स्वास्थ्य बाहर ठीक न हो, किन्तु अंदर बिना दवा के स्वस्थ हो जाने के अनेक किस्सों में अनुभव हुआ है। शरीर का फीकापन दूर होना, कब्ज दूर होना, हमेशा का सिरदर्द मिट जाना, मुँह पर होनेवाले मुँहासे खत्म हो जाना, चमड़ी कोमल होना, मुख की कांति उज्वल होना, हृदय की बीमारी हो तो बाहर बिना दवा के न चल सके, किन्तु अंदर बिना दवा के आराम मिले। इस प्रकार स्वास्थ्य पर अनेक विधेयात्मक असर पैदा होती है।

(१७) विषयवासना, कामवासना के हमले किसी को अंदर कभी ज्यादा तीव्रतावाले आवे, जबकि अनेकों को उससे विरुद्ध ही अनुभव हो। उसमें हमले बिलकुल न आवे या हल्के आकर चले जाय।

(१८) मोटे व्यक्तियों का वजन घटने के और बाहर से अंदर बहुत कम भोजन करने पर भी दुबले-पतले व्यक्तियों का वजन दस प्रतिशत तक बढ़ने के अनुभव हुए हैं।

(१९) बाहर सामान्यतः कब्ज हो और रहता हो, तब अंदर बैठने के साथ ही पहले ही दिन से दिन में दो बार अपनेआप शौच जाने का नियमितरूप से शुरू हो जाय और वह भी कई दिनों तक लगभग मिनट टु मिनट नियमितरूप से वैसा होता रहे और बाहर आने पर फिर अदृश्य हो जाय।





(२०) एक बहन को कई दिनों से बुखार था। लगभग एक सौ एक बुखार के साथ मौन में बैठने आये और बुखार तुरंत उतर जाने का भी अनुभव है।

(२१) अंदर बैठनेवाले व्यक्ति को अपने व्यवसाय के अनुसार भी कई अनुभव हुए हैं। लेखक हो और मौन में प्रवेश करे तो सुव्यवस्थित सुंदर मौलिक विचार आवे। व्यापारी हो, उसे व्यापार के व्यवहार की उलझनें अपनेआप सुलझ जाय। सुषुप्त कविहृदय को अपनेआप कवित्वशक्ति फूटती और विकास प्राप्त करती भी अनुभव होती है। और फिर वह कायमी स्वरूप से बाहर चालू रही भी है। अल्पशिक्षित को भी ऐसे अनुभव हुए हैं।

(२२) किसी व्यक्ति को अपनी पूरी जीवनदृष्टि के परिवर्तन का अनुभव होता है। किसी को साधना में रुकावट आई हो, गुरु के साथ का संबंध छोड़ देने की अंतिम पल आ गई हो और अचानक मौनएकांत में सुखद बदलाव आ जाय, जीवनदृष्टि बदल जाय, समग्र विचारधारा बदल जाय, मन जिस प्रकार जिन बाबतों का विचार करता हो वह बिलकुल अदृश्य हो जाय, उससे दूसरे ही प्रकार के शांत और सुखद विचार आने लगे। ऐसे सूक्ष्म अनुभव भी होते हैं।

(२३) नडियाद आश्रम शुरू नहीं हुआ था, तब साबरमती हरिजन आश्रम में (गांधीजी के आश्रम में) मीरांकुटिर में मौन में बिठाने की व्यवस्था वहाँ के स्थानिक कार्यकरों की अनुमति से हुई थी। वहाँ एक बार एक बहन इक्कीस दिन के मौनएकांत में बैठे थे। जाग्रतावस्था के दरमियान जप तो खूब ही जोर से और सतत चलते ही रहते। पंद्रहवें दिन उस बहन को अपने पति की सलामती, स्वास्थ्य के संबंध में बहुत अनिष्ट विचार आया ही करे। दिल में किसी भी प्रकार चैन ना पड़े। अठारहवें दिन उन विचारों ने मानसिकरूप से मर्यादा तोड़ दी। उन्हें ऐसा ही लगने लगा कि उनके पति की मानो चिता सुलग रही हो और सगे-संबंधी उसे अपनी रुढ़ि के अनुसार कुछ-कुछ करते हैं। इससे अपने पति के समाचार जानने के लिए बाहर चिट्ठी रखी। **सामान्य रीति से मौन में बाहर के कोई समाचार नहीं दिये जाते हैं। फिर,** पूज्यश्री बाहरगाँव गये थे। इससे उन्हें कोई समाचार दिये भी नहीं गये। कोई समाचार थे भी नहीं। इससे उनके लिए नामस्मरण और प्रार्थना के सिवा दूसरा कोई उपाय ही नहीं रहा। उस दिन ग्यारह बजे बाद विचार बंद हुए। दूसरे दिन सुबह प्रार्थना के समय उनका सब हल अपनेआप ही हो गया। उसके बाद बराबर दो वर्ष बाद उसी अनुभव के दिन, उस बहन के पति ने देहत्याग किया ( तिथि अनुसार )। इस प्रकार भविष्य



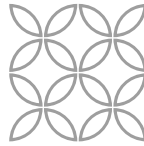


के प्रसंग की आगाही के रूप से किसी-किसी को मौन में जानकारी मिल जाती है।

एक बार वही बहन सूरत आश्रम में तहखाने में अट्ठाईस दिन के मौन में बैठे थे। वे जिनके मकान में रहते थे, उस मकान-मालिक पति-पत्नी के साथ उनका वर्षों से संबंध था। बहन थोड़े दुःखी थे। इससे उस बहन के दुःख में उन्होंने बहुत हिस्सा लिया था। मौन में थोड़े दिन बाद उस दुःखी बहन के पति के संबंध में मृत्यु होने के विचार आते रहते थे। उनको ऐसा लगता था कि, “यदि सचमुच ऐसा अयोग्य हुआ होगा तो मुझे मौनएकांत छोड़कर जाना चाहिए।” किन्तु पूज्य श्रीमोटा उन दिनों में बाहर थे। इससे उस बहन ने संकल्प किया, “यदि पूज्यश्री आवे और ऐसा कोई पत्र हो और मुझे कहे तो मुझे जरूर मौन छोड़ कर जाना चाहिए।” इस प्रकार मन के साथ तय करने के बाद ऐसे विचार अपनेआप शांत हो गये। उस घटना के ठीक पाँच महीने बाद उसी तारीख को उनकी सहेली के पति का—जिसके बारे में उनको मौन में विचार आये थे, उनका—अचानक हृदय बंद होने से शरीर छूट गया। उसके चार दिन पहले ही तो वह बहन वहाँ गये थे और स्वास्थ्य बहुत अच्छा देखकर आये थे।

इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के अनेक प्रकार के विविध रूप के अनुभव मौनएकांत में बैठनेवाले भाई-बहन को होते हैं।

ऐसा क्यों होता है ? किस शक्ति के प्रताप से? उस बारे में तो सब कोई अपनी-अपनी शक्ति, बुद्धि, संस्कार और रुचि के अनुसार ही समझ ले वही इष्ट है। किन्तु एक बात तो तय है कि इन मौनएकांत के कमरों में कोई अदृश्य चेतना की उपस्थिति का अनुभव होता है सही। “उस” की शक्ति की प्राणप्रतिष्ठा हुई हो वैसा वहाँ महसूस होता है सही।



## २९. जीवनदृष्टि का अभाव

पूज्य श्रीमोटा के साथ के संपर्क से हम इतना तो जरूर सहजरूप से आसानी से पा सकते हैं कि जो कुछ करो, वह आशा-अपेक्षारहित, जीवनविकासार्थ, स्वविकासार्थ, दूसरों का ख्याल किये बिना करो। प्रेमभाव रखना वह कोई व्यापारी सौदा नहीं है। लेनदेन का हिसाब नहीं है, जोखतौल कर देने की रीत नहीं है। प्रेमभावना तो स्वयंभू है, निरपेक्ष है, निरालम्ब है और इस विषय पर तो पूज्य श्रीमोटा का “ पुनित प्रेमगाथा ” नाम का पुस्तक छपा है।

यह लिखने का निमित्त बनता है एक छोटा सा प्रसंग। प्रसंग है छोटा सा, किन्तु उसकी सीख है बहुत गहरी -जीवन को जगानेवाली। इसलिए यह लिख रहा हूँ। फरवरी की १५वीं तारीख, ई. स. १९६३ का दिन था। नडियाद आश्रम में एक पुराने कांग्रेस कार्यकर्ता खादीधारी भाई पूज्य श्रीमोटा को पुराने परिचय के हिसाब से मिलने आये। उन्होंने तो अपनी बातें शुरू की। बात में अपनी जीवनगाथा ही केंद्रस्थान पर थी। वे देशसेवार्थ सातआठ बार जेलयात्रा कर आये थे। जीवन के चार से पाँच वर्ष जेल में बिताये थे, ऐसा उन्होंने अत्यंत संतोषपूर्वक और कुछ अंश में अभिमानपूर्वक बताया। लोकदृष्टि से इतनी हकीकत या माहिती उनके संबंध में सम्मान और महत्ता का प्रभाव अन्य पर पड़ने के लिए पूरी मानी जायेगी।

बहुत सी अन्य बातों में उन्होंने जीवन का अपना कुछ असंतोष भी व्यक्त किया। अत्यंत संताप के साथ और शिकायत के रूप में उन्होंने कहा कि उन्होंने उनकी भतीजियों के लिए बहुत कुछ किया था, उनके लिए उन्होंने त्याग किया था, उनको बहुत दुलार किया, स्नेह किया, बहुत सी वस्तुएँ उपहार के तौर पर दी थी, साथ-साथ शिकायत के रूप में यह भी कहा कि वर्तमान में वे सब भतीजियाँ उन्हें बिलकुल भूल गई हैं और उनमें से किसी ने भी उनके प्रेम का बदला नहीं दिया है। उन्होंने इसके प्रत्याघात के रूप में अपने मन की बात भी प्रकट कर दी, स्त्रीसमाज के प्रति नापसंदगी में वह परिवर्तीत हुई। उसका ख्याल तब ही आया कि जब उन्होंने कहा कि उन्हें मात्र पुत्र ही है, एक भी पुत्री नहीं है। उनके सच्चे शब्द पुत्री के लिए तो, “बला नहीं है वह अच्छा है” - ऐसे थे। उनके इन शब्दों से मैं चौंक उठा



था। दिल में हलका दर्द भी हुआ। इस एक ही शब्द में उस सज्जन ने नारीजाति के प्रति उनकी नापसंदगी और रोष व्यक्त कर दिया, उस शब्द में भी कुछ घमंड, ऊब, रोष, तिरस्कार इत्यादि अनेक भाव व्यक्त हो जाते थे। इस घटना ने मुझे विचार करते कर दिया।

इस भाई ने जीवन की युवानी के मूल्यवान वर्ष “देशसेवा” के पीछे बिताये, जेल में असुविधा और कमी भी सहन की, किन्तु अपनी स्वयं की सेवा वे नहीं कर सके ऐसा लगा। इतने साल और इतना श्रम उन्होंने जीवनविकास के लिए उसकी सच्ची दिशा में जीने का किया होता तो वे ज्यादा और बहुत कुछ प्राप्त करते। ऐसी देशसेवा में उनके अहम् का पोषण हुआ होगा। कुछ अल्पजीवी कीर्ति भी उस काल में मिली होगी, किन्तु वह सब तो खत्म हो गया और रह गया मात्र अहम् और अपनी संकुचित मनोवृत्तियाँ।

हमारे लिए तो यह घटना eye-opener—दृष्टि बदलनेवाली—बनती है। संतसमागम का महिमा यदि हमारी प्रकृति के रूपांतर में परिवर्तित न होता हो तो फिर हमें सोचना रहा। पूज्यश्री के निकट के संपर्क में से यदि उसमें से थोड़ा भी न ग्रहण किया, तो वह हमारा संपर्क हमने मिथ्या बना दिया माना जायेगा।

प्रकृति का रूपांतर न हो तो हमारे से होनेवाला संतसमागम, हमारी भूमिका अत्यंत जड़ होने से, फलितार्थ नहीं होता ऐसा समझना रहा। मेरा स्वयं का अनुभव है कि जो-जो जिज्ञासु भाईबहन थोड़ी भी जागृति और विकासवांछु भावना से पूज्यश्री के समागम में आये हैं, उन सब में उनकी चित्तशुद्धि के प्रमाण में और भावुक ग्राहकता के प्रमाण में इस बारे में अवश्य थोड़ासा तो लाभ पाया ही है। निरपेक्ष भाव दिखाने की प्रक्रिया, निरपेक्ष सेवा करने की इच्छा और निरपेक्षरूप से जो कुछ कर दो वही जीवनसंगिनी बन कर रहेगा ऐसी समझ जितनी हमारी दृढ़ बनेगी उतना लाभ हमें ही है।



### ३०. पूज्यश्री और अलंकार

पूज्यश्री ने सामाजिक उत्थान के कार्य हाथ में लिए, तब उसके लिए आवश्यक रकम कहाँ से लाना ? - ऐसे मंथन में से उनके जीवन के तीन दिनों के उत्सव मनाने की शुरूआत हुई। (१) भाद्र के कृष्णपक्ष की चतुर्थी, उनका जन्मदिन, (२) रामनवमी, उनका साक्षात्कार दिन, (३) वसंतपंचमी, उनका दीक्षादिन। ऐसे एक उत्सव की यह बात है। सूरत शहर का यह सब से पहला उत्सव था।

रामनवमी, दिनांक २-४-१९६३ का शुभ दिन, वह पूज्य श्रीमोटा का साक्षात्कारदिन सूरत में श्री रतिलाल रंगुनवाला के वहाँ अत्यंत भावपूर्वक और उल्लासमय वातावरण में मनाया गया। यों तो कुंजराव के श्री पी. टी. पटेल वह उत्सव करनेवाले थे, किन्तु सूरत में एक भी उत्सव आयोजित नहीं हुआ था। इससे श्री रतिभाई रंगुनवाले की विनती से वह सूरत में आयोजित किया गया।

मंडप बाँधनेवाले एक अत्यंत ही भावुक भाई ने बिना मूल्य के भव्य मंडप बाँध दिया था। श्री रतिभाई के नये मकान के आँगन में ही वह विशाल मंडप बाँधा गया, जिसमें हजार जितने व्यक्ति तो सरलता से समा सके ऐसी व्यवस्था की गई थी।

यजमान सूरती थे न! - इससे सूरत की शौकीन प्रजा के अनुरूप मिष्टान्न, फरसान इत्यादि रसोई करने की यजमान की इच्छा थी। किन्तु पूज्यश्री ने ऐसा कुछ करने की मनाई कर दी थी। इससे सुबह सिर्फ दाल, भात, सब्जी, पूरी और सेम इतनी ही वानगी बनाई गई। चटनी, रायता, पापड, फरसान कुछ भी नहीं। शाम को सिर्फ खिचड़ी, कढ़ी और सब्जी। ऐसे, बिलकुल सादे भोजन का प्रबंध करवाया था।

सुबह के सात बजे हम आश्रम में से शहर में उत्सवस्थल पर पहुँच गये थे। सात बजे से लोगों की भीड़ आना शुरू हो गई थी। ७-३० बजे प्रार्थना से आरंभ हुआ, भजन भी हुए।

आठ बजे पूज्य श्रीमोटा ने अपना प्रवचन आरंभ किया। “ मानवजन्म का माहात्म्य ” इस विषय को उन्होंने अत्यंत रसप्रद रीति से विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया। वह प्रवचन एक भाई को इतना पसंद आ गया कि उसकी नकल अपने खर्च पर निकलवा कर बाँटने की इच्छा उन्होंने





व्यक्त की। अंदाज़नू पैतालिस मिनट जितना वह प्रवचन चला होगा। सात सौ के करीब भाईबहनों ने श्रीमोटा को पूर्ण शांति से सुना था। बीच में लाउडस्पीकर बिगड़ने पर पूज्यश्री ने उनका आवाज बढ़ाया और आवाज बुलंद होने से सब शांति से सुनते रहे। श्रोताओं में आधी तो बहनें थी।

८-४५ बजे पादपूजा और चरणस्पर्श की विधि एवम् पूज्यश्री के चरणों में भेंट रखने की विधि की शुरूआत हुई। लगभग एक घंटे से ज्यादा वह विधि चली। लंबी कतार में सब खड़े रह गये थे। पुष्प, सूत की आँटी, श्रीफल, कपड़ा और नक्रद रुपये की नोटों का अस्खलित प्रवाह चल रहा था। बालक, युवान-युवतियाँ, प्रौढ़ और वृद्ध-सब ने अपनी-अपनी रीति से और यथाशक्तिमति अनुसार भेंट दी। अंदाज़नू ३०० रसीदें बनी। प्रत्येक भेंट के सामने रसीद दी जाती थी और अलग नोटबुक में भी नोंध की जा रही थी। १० बजे तक में इन भेंटों की कुल जोड़ अच्छी हो गई थी। पूरी झोली छलक गई थी। पूरे समुदाय में भक्तिभाव, उल्लास, उमंग और आनंद की लहर फैल रही थी। सूरत शहर के भाईबहन के अतिरिक्त आसपास के गाँवों में से नवसारी, वलसाड, बिलीमोरा, वडोदरा, नडियाद, अहमदाबाद, नरोडा, मुंबई और मद्रास ऐसे दूरदूर से ट्रेन द्वारा, कार द्वारा भक्त, प्रशंसकों और मित्र आये थे। सब इस उत्सव में हिस्सेदार होने में प्रसन्नवदन और प्रफुल्लित लगते थे।

एक विशाल पाट पर गलीचे डालकर, गद्दीतकिए रखकर ऊँची बैठक पूज्य श्रीमोटा के लिए बनवाई गई थी। ९-४५ मिनट पर पूज्य श्रीमोटा उनकी सुसज्जित बैठक पर से उठे। यजमान में कुटुंबियों ने पादपूजा की और फिर तीसरी पंगत में पूज्यश्री सबके साथ बीच में भोजन के बाद आपश्री आराम करने उनके लिए खास सिंगार किये हुए कमरे में गये। सौ से डेढ़ सौ भाई-बहन सामूहिक - ऐच्छिक हरिनाम स्मरण की धुन में बैठे। एक घंटे धुन चलने के बाद डभाणवाले श्री रावजीभाई ने पूज्य श्रीमोटा के पुस्तकों के साररूप प्रकट होनेवाले “जीवनपराग” पुस्तक में से आध्यात्मिक वाचन किया।

बराबर एक बजे पूज्यश्री बाहर मंच पर आ गये। देर से आनेवाले भाईबहनों ने भेंट-उपहार की समर्पणविधि आरंभ कर दी। फिर प्रश्नोत्तरी (आध्यात्मिक प्रश्न) का कार्यक्रम आरंभ हुआ। पूज्यश्री ने विस्तार से उत्तर दिये। नये आगंतुक चरणस्पर्श करते जाय और प्रश्नोत्तरी चालू रहती जाय। इस प्रकार ढाई बजे फिर से भजन का कार्यक्रम आरंभ हुआ।

मथुरीबहन खरे, जो खास अहमदाबाद से इस प्रसंग के लिए आये





थे। उन्होंने पूरे डेढ़ घंटे तक भजनों की झड़ी बरसाई और श्रेताओं को भक्तिरस में सराबोर करके मुग्ध कर दिये।

फिर से शाम को चार से पाँच बजे तक वार्तालाप का आयोजन हुआ। सुबह की अवधि में यजमान पत्नी श्रीमती कमुबहन ने पूज्यश्री के साफा पर, गले में, कंधे पर और शरीर पर पुष्पों की मालाओं का खास तैयार करवाया हुआ श्रृंगांर पहनाया। दोनों हाथ की कलाई में पुष्पों की माला बाँधी थी। सिर पर साफा पर लटकती हुई दोनों तरफ पुष्प की मोटी माला सुंदर शोभायमान थी। इन सब दृश्यों के फोटो भी लिये गये थे।

शाम को वार्तालाप के समय यजमान पत्नी श्रीमती कमुबहन सोने के २२ करेट के उनके गहनों में से एक मोटी बड़ी सुवर्ण - कंठी और दो मोटी अँगुलियाँ की सोने की अँगूठियाँ लेकर आये और समूह के समक्ष पूज्यश्री के गले में सुवर्ण-कण्ठी पहनाई और अँगूठियाँ उँगलियों में पहना दी। इस प्रकार वह सब भेंट कर दिया। यह दृश्य अत्यंत ही अनुपम था। पूज्यश्री ने भी वह सब गहनें रात तक पहन रखे थे। उसमें उन्हें कोई क्षोभ या संकोच बिलकुल नहीं था। उनके इस प्रकार के निःसंकोच बिनक्षोभ वर्तन की हमारी अन्य भी कितनीक स्वयं द्वारा मालूम हुई हकीकत है।

त्रिची में १९४६ की शुरूआत में एक-दो बहनों ने पूज्यश्री को एक शर्त पर सोने की चूड़ियाँ ओफर की थी। यदि पूज्यश्री वह चूड़ियाँ अहमदाबाद पहुँचने के बाद निकाले तो वे चूड़ियाँ उन्हें भेंट दी जा सकती हैं। पूज्यश्री ने वह ओफर स्वीकार कर ली। दो या तीन महीने तक वैसी सोने की चूड़ियाँ दोनों हाथ में पूज्यश्री ने पहन रखी थी। अहमदाबाद आने के बाद वह काटकर निकाली गई थी। साबरमती आश्रमवाले सद्गत श्री नरहरिभाई परीख और श्री छगनभाई जोशी दोनों त्रिची हमारी पीढ़ी पर आये थे। पूज्यश्री ने तब चूड़ियाँ पहनी थी। उन्हें आश्चर्य हुआ और कारण पूछा। पूज्यश्री को न तो क्षोभ था या न संकोच। यदि ऐसा कर सके थे तो श्री रतिभाई रंगूनवाला के घर सूरत के उत्सव में गहने पहने रहने में संकोच तो होगा ही कहाँ से!

१९६२ की साल में हमारे कुटुंब में शादी थी। अहमदाबाद के खमासागेट के पास दशा नागर की वणिकबाड़ी में भोजन था। हमारी उस जाति में उस वक्त रिवाज था कि प्रवेशद्वार के पास पाट बिछाकर ज्ञाति के नेताओं को उस पर बिठाते। उस पाट पर अग्रस्थान पर पूज्यश्री को बिठाये थे। उस वक्त हसमुखभाई की पत्नी श्रीमति प्रमीलाबहन ने रु. ८०००/- के अंदाज का हीरे का हार पूज्यश्री के गले में पहना दिया था। पूज्यश्री के





गले में हार शोभता था। उनके सदैव के पहनावे में खुले शरीर पर यह हार पहना था। इससे जो कोई ज्ञाति के अग्रणी आवे वह नजर गड़ाकर देखे। कई-कई भँवर और विचार लोगों को उठे होंगे। पूज्यश्री तो मानो कुछ हुआ ही नहीं है वैसे आराम से सब के साथ बात करते जाते और हँसते जाते। समारंभ के अंत में जब वह हार प्रेमीलाबहन को वापस देने लगे तो उन्होंने हार वापस लेने की साफ ना कह दी। “दिया तो दिया” वैसे ही कहे। वह हार रात तक पूज्यश्री ने पहन रखा था। फिर निकाल कर मुझे रखने के लिये दिया था। बलात् समझाकर उस बहन को वह हार वापस किया, किन्तु उस बहन ने उसके मूल्य के जितनी रकम प्रेम से नक़द दी और बाद में वह वापस लिया।

यों मूल बात पर आऊँ तो इस रामनवमी के उत्सव में आभूषण से श्रृंगारीत पूज्यश्री के दर्शन का अवसर कइओं को मिला। इस बाबत के बारे में बहनों को तो बेहूदा न लगा, किन्तु “पढ़े-लिखे” भाईओं को थोड़ा बेहूदा लगेगा जरूर, क्योंकि समझ की भी एक सीमा बन गई होती है न!

**सुबह को आश्रम के समय पर ही भोजन रखा था। लगभग सुबह एक हजार और शाम को सात सौ व्यक्ति भोजन में थे।** खिचड़ी बीरंज के जैसी बनी थी। सबको अत्यंत स्वादिष्ट लगी और कढ़ी तो जैसे दही की लस्सी देख लो! सूरती भोजन था न! भले मिष्टान्न और फरसान न बनाने दिये तो उसकी कमी और उसका स्वाद अन्य सादे भोजन में उतरा। इस प्रकार साढ़े छः बजे उत्सव पूर्ण हुआ और अत्यंत भाववाही वातावरण के बीच सात बजे पूज्यश्री को यजमान कुटुंब ने गद्गद भाव से सजल आँखों के साथ प्रेमभरी विदाय दी।

इस उत्सव में मिली हुई भेंट-नक़द रकम का उपयोग सामाजिक लोककल्याण के कामों में करने का निर्णय लिया गया था। सूरत जिले के चौरासी तहसील के बारह से तेरह गाँवों में प्राथमिक और माध्यमिक शालाओं की लाइब्रेरी में जीवनचरित्र के गुजराती पुस्तक मँगवा दिये जाय और रांदेर गाँव के रहावन के कुँ पर लोहे की गराड़ी बिठाने का तय किया। बाकी की रकम को भी ऐसे ही सामाजिक जनकल्याण के कामों में खर्च करने का तय हुआ। यों पूज्यश्री आपश्री को निजी मिलनेवाले उपहारों - भेंटों का उपयोग लोग हितार्थ खर्च करते हैं, यह तो अब बहुत प्रसिद्ध बात है।

उत्सव के यजमान श्री रतिभाई रंगुनवाला ने अकेले ने ही इस उत्सव





का सब खर्च उठाया था। उसके अतिरिक्त, अच्छी रकम उनके कुटुंबियों के नाम से भेंट नक्रद अर्पण की और सोने के गहनें अंदाज़न् साढ़े पाँच तोले के (२२ केरेट सोने के) यजमान पत्नी ने अपनी मनमर्जी से भेंटस्वरूप पहनाये वह तो अलग। ऐसा विरल भाव सूरत के भक्तों ने दिखाया वैसा उनका भाव ही उनके श्रेय-कल्याण में आगे और आगे वृद्धि होता जाय वही प्रार्थना है। पूज्य श्रीमोटा की प्रवृत्तियों का विस्तार जैसे-जैसे बढ़ता गया, संपूर्ण गुजरात में आपश्री जैसे ज्यादा और ज्यादा प्रसिद्ध होते गये जैसे-वैसे एक के बाद एक अनोखे उत्सव आयोजित होने लगे। उन सब का वर्णन करने जायेंगे तो कभी पूरे नहीं होंगे। हरएक उत्सव अलग-अलग प्रकार के और यजमानों के अलग-अलग गूढ़ सघन भावों के दर्शन करवानेवाले थे। उसके बाद तो इतने तो प्रचलित हो गये कि प्रारंभकाल की नवीनता क्रमानुसार कम होती गई। फिर भी उस प्रारंभकाल के प्रतिनिधि रूप से एक इस उत्सव का वर्णन हमने यहाँ प्रस्तुत किया है। - लेखक



### ३१. वडताल के पूज्य मोतीबहन

गुजरात में स्वामीनारायण संप्रदाय का विकास हुआ। स्वामी सहजानंदजी ने उत्तर भारत से आकर गुजरात में निवास किया। अपने आध्यात्मिक जीवन की कर्मभूमि गुजरात को बनाई। वर्ग और जाति के भेदभाव बिना उच्च जीवन जीना लोगों को सिखाया। उनका इतना तो प्रभाव था कि अंग्रेज इतिहासकारों ने उन्हें उस युग के महान सुधारक धर्मपुरुष माने।

वर्तमान में तो उस संप्रदाय में दो-तीन एकदूसरे से अलग-अलग शाखाएँ हो गई हैं, किन्तु कितनेक वर्ष पहले सौराष्ट्र में गढडा और मध्य गुजरात में वडताल वह उनके मंदिरों के अनुयायियों के, साधु-संन्यासियों के और साधकों के मुख्य स्थल हैं।

ऐसे ऐतिहासिक धार्मिक स्थल वडताल से एक बार स्वामीनारायण संप्रदाय के एक बहन नडियाद आश्रम पर आये। अंदाज़न् उम्र वर्ष छयालीस होगी। उनके साथ सेवा में एक बहन थे। आश्रम पर आये, इससे परिचय हुआ। बात मालूम हुई कि इस बहन को—मोतीबहन को—चौदह वर्षों से टट्टीपिशाब नहीं होते हैं एवम् वे भोजन नहीं करते हैं, पानी भी नहीं पीते हैं। आराम के लिए कुछ घंटे की नींद लेते हैं, किन्तु सही अर्थ में उसे नींद भी नहीं कह सकते हैं। फिर भी उनके मुख और तन पर थाक नहीं दिखता। प्रसन्नचित्तता लगती। उनको स्वयं को दिन में दो-तीन बार समाधि भी आ जाती है। कभी-कभी समाधि रहती भी सही। समाधि में शरीर का होश बिलकुल चला जाय और मुर्दे की तरह पड़े रहते।

उनके भक्तों का ऐसा भी कहना है कि वे दूसरों को भी समाधि करा सकते हैं। आश्रम में इस प्रकार समाधि करा देने का एक प्रयोग उन्होंने करके दिखाने की तत्परता दिखाई। एक भाई को अपने सामने बिठाया और उस भाई को इष्टदेव का ध्यान करने का कहा। वह भाई स्वस्थरूप से और शांतिरूप से तीस से चालीस मिनट ध्यान में बैठे रहे, किन्तु समाधि चढ़ी नहीं। उनको किसी प्रकार के आंदलों का अवश्य अनुभव हुआ, अलौकिक स्पंदनों का अनुभव हुआ, किन्तु समाधि नहीं चढ़ी।

फिर मुझे बिठाने का किया। मैं संपूर्ण विधेयात्मक अभिगम रखकर उनके सामने बैठा। मुझे ध्यान अत्यंत एकाग्रतावाला हुआ सही, किन्तु समाधि नहीं चढ़ी।



अन्य भी कितनीक लाक्षणिकताएँ उनकी देखने को मिली। इन्द्रियों से पर के अनुभव उसे कह सकते हैं सही। दो बार पूज्य मोतीबहन के मुँह में से द्राक्ष निकली। उनको स्वयं को समाधि हुई और मुँह में से सूखी द्राक्ष निकली। उनके परिचय में हो ऐसे अन्यों ने ऐसा भी कहा था कि अनेक बार अनेक अलग-अलग चीजें उनके मुँह में से निकलती हैं। दूसरी किसी जगह से वस्तुएँ अदृश्य शक्ति की सहाय से खींचकर अपने में प्रकट कर सकती हैं। कहीं रसोई बन रही हो और उनके पेट में दर्द जैसा होने पर डकार आकर उलटी होती है और उलटी में रसोई के कण उसमें हो ऐसा दूसरों ने देखा था वैसा उन व्यक्तियों को कहते हुए सुना था।

उन्हें प्रश्न पूछा गया, “आप यह सब मंत्रशक्ति से करते हो?” उसका जवाब उन्होंने “नहीं” में दिया। उन्होंने कहा, “यह सब गुरुकृपा की शक्ति से होता है।

स्वामीनारायण संप्रदाय की विरासत में चमत्कारों का अवकाश रहा हुआ है। मूल आदि पुरुष की वह प्रेरणा और कृति है। अलबत्ता, ऐसे चमत्कार हमारे आध्यात्मिक विकास में कितने उपकारक हो सकते हैं, वह शंकास्पद है। आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्यादा से ज्यादा तो ऐसे चमत्कार हमारे में प्रारंभिक भूमिका में आत्मशक्ति के बारे में श्रद्धा प्रेरित करे उतना ही। उससे हमारी दरिद्रता दूर नहीं हो सकती, हमारा विकास नहीं हो सकता, क्योंकि हम जीवदशा में हों, तब कुछ समय के लिए वह हमें अभिभूत करे। किन्तु राग, द्वेष, मोह, मद, मत्सर, काम, क्रोध इत्यादि को फीके करने में और चित्तशुद्धि पैदा करने में वह उपयोगी होगा ही ऐसा नहीं होता है, किन्तु वह तो दूसरा प्रश्न हुआ। यहाँ तो प्रस्तुत घटना बनती है, यह एक हकीकत है। घटना का इनकार नहीं हो सकता, उतना ही उसका महत्त्व है।

अहमदाबाद के एक दूसरे बहन मणिबहन नाम के भी स्वामीनारायण संप्रदाय के। बेंगलोर में मुलाकात हुई थी और ऐसी ही शक्तिवाले उनको देखा था। बहुत सारी वस्तुएँ उनके हाथ में प्रकट होती थी। उसमें भी कहीं छल का आभास भी नहीं था।

पूज्य मोतीबहन की विशिष्टता यह कि वर्षों तक खुराक, पानी, टट्टीपिशाब बिना भी वे टिके हुए थे। अलबत्ता, होस्पिटल में मेडिकल परिचर्या के नीचे आठदस दिन रहकर उसकी छानबिन करके साबित नहीं किया गया है। ऐसा हो सका होता तो विश्व को ठोसरूप से एक संपूर्ण घटना जानने को मिली होती। कुदरती हाजत के नियम के पार की यह बात मामूली नहीं कही जा सकती है। किस प्रकार यह संभव है, वह प्रभु ही कह





सकते हैं। ये पूज्य मोतीबहन इतने तो नम्र, निराभिमानी और सरल हैं कि उसमें कहीं छल हो ऐसा बिलकुल लगता नहीं है।

इस पर से एक नया प्रश्न पैदा होता है कि ऐसा हो तो वह व्यक्ति क्या आत्मनिष्ठ मानी जा सकती है सही? पूज्य श्रीमोटा के साथ के सांनिध्य में रहकर जीवनविकास के बारे में जो कुछ आज तक की समझ मिली है, उस पर से इतना तो कह सकते हैं कि आत्मनिष्ठ के मुख्य लक्षण यदि न प्रकट हुए हो और इतना ही मात्र हो तो वह आत्मनिष्ठपन के लिए पर्याप्त नहीं है।

यही पूज्य मोतीबहन को दूसरी एक दफा सूरत आने का हुआ। पूज्य श्रीमोटा के देहदयाग के थोड़े समय पहले की ही यह बात है। श्री चंदुभाई भावसार, अहमदाबादवाले के पुत्र की दूसरी बार की शादी पूज्य श्रीमोटा के हाथ से करवाने के लिए वे सब सूरत आश्रम पर आये थे। पूज्य श्रीमोटा उस वक्त सूरत आश्रम पर थे। पूज्य मोतीबहन को उस कुटुंब के साथ लंबी अवधि का संबंध। वे भी शादी में उपस्थित रहे थे। बहुत से लोग उपस्थित थे। पूज्य मोतीबहन को नववधू को इस प्रसंग पर कुछ उपहार देने की इच्छा सहजरूप से प्रकट हुई। इससे सब के बीच उन्होंने अपने गले के नीचे के हिस्से पर हाथ से थाप लगाई। पूज्य श्रीमोटा की उपस्थिति में मोती की नाक की नथनी और वह भी सोने के तार से गंठी हुई मुख में से खखार के साथ निकालकर दिखाई। यह हकीकत आँखों से देखी है। पूज्यश्री ने हाथ में लेकर उठाकर सबको दिखाई।

यह सब लिखने का हेतु तो यही है कि वैज्ञानिक घटनाओं में कार्य-कारण का संबंध हमेशा होना अनिवार्य है। फिर भी अभी की आधुनिक वैज्ञानिक घटनाओं में वह सबके लिए स्पष्ट नहीं दिखता है। वैसे ऐसे इन्द्रियातीत अनुभवों में भी कार्य-कारण की कोई साँकल होने की संभावना होने की है, फिर भी हरएक के लिए वह साँकल स्पष्ट होना मुश्किल है, इतने मात्र से उसका इनकार नहीं हो सकता। फिर, हमें समझ में आवे वही सत्य और हमारी समझ में न आवे उसे सत्य के रूप में नहीं स्वीकार करने की गलती हम न करें इतना ही। जगत में बहुत कुछ ऐसा है कि हरएक का स्पष्टीकरण उपलब्ध नहीं है। मनुष्य के रूप में हमारा इस जगत में अस्तित्व क्या एक बड़ा चमत्कार नहीं है?



## ३२. आहुतियज्ञ

पूज्य श्रीमोटा ने अंदाज़न् बीसेक वर्ष पूर्व नरोडा के हरिःॐ आश्रम में एक यज्ञ कराया था। उसमें कोई भी हिस्सा ले सके वैसी सुविधा थी। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, हरिजन, पारसी, खिस्ती, विद्वान, अनपढ़ सब कोई प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा ले सके वैसी व्यवस्था थी। उसमें दिनरात चौबीसो घंटे सतत एक श्लोक बोलकर श्लोक के अंत में आहुति दी जाती। यह आहुति किसी बाह्य पदार्थ की नहीं, किन्तु व्यक्ति के अंदर ही रही हुई निम्न वृत्तिओं की आहुति देने की थी। ऐसे भाव का अनुभव करने का था। इस प्रकार प्रभु को प्रार्थना कर-कर के आहुति देते हुए व्यक्ति जीवनविकास के मार्ग पर थोड़े भी कदम आगे बढ़ सके यह हेतु मुख्य था। ऐसा यज्ञ अभी तक देखने में या सुनने में नहीं आया था। ऐसा नहीं देखा हुआ यज्ञ आपश्री ने शुरू करवाया। उसमें कुछ भी आर्थिक खर्च नहीं, दिखावा या ठाट-बाट नहीं। सिर्फ प्रकाश के लिए बिजली के दीये और बैठने के लिए मंडप इतनी व्यवस्था थी। उसका जो भी खर्च आवे वह आवे। यज्ञ का कोई विज्ञापन नहीं दिया गया था। अरे! यज्ञ की वेदी में घी डालकर ज्वालाओं को उन्मुखी करने में आती है, वह घी भी यहाँ होम नहीं करना था। उसमें अलबत्ता, जीवन को उन्नत बनाने की भावना थी। और वह भी यज्ञ में पाटे पर बैठनेवाले व्यक्ति अपनी निम्न वृत्तिओं को होम कर वैसा कर सकते थे। यज्ञ में बोलनेवाला श्लोक भी गुजराती में था। संस्कृत हमारी गौरवमयी भाषा, देवभाषा। उसमें हमारे शास्त्रों की रचना हुई थी। हजारों वर्ष की संस्कृति उसमें छलकती है। इससे उसके उच्चार जरूर कर्ण को सुमधुर और अति प्रिय लगते हैं सही, इसका इनकार नहीं कर सकते हैं। किन्तु वह संस्कृत भाषा समझनेवाले कितने? बहुत ही अल्प संख्या उसे समझ सकती हैं। बहुजन समाज तो उसे बिलकुल नहीं समझ सकता है। ऐसे न समझनेवाले लोगों का प्रतिशत लगभग पंचानवे से सत्तानवे प्रतिशत होगा। इससे ऐसे सार्वजनिक यज्ञ में ऐसे श्लोकों का अर्थ भी क्या? और जिसका अर्थ नहीं समझ में आवे उसका भाव भी किस प्रकार पैदा हो? पहले अर्थनिष्पत्ति हो, बाद ही भावनिष्पत्ति। इस कारण से पूज्य श्रीमोटा ने उस यज्ञ के लिए नीचे लिखे हुए श्लोक की रचना की :



(अनुष्टुप)

पाने विघ्न से मुक्ति शांति, कल्याण तरसने  
आहुति देकर प्रार्थना करते 'उन्मुखी दिल प्रेरित करने ।'

यहाँ विघ्न शब्द का अर्थ जैसा करना हो वैसा किया जा सकता है । सांसारिक विघ्न भी हो सकते हैं और साधना में बाधा उत्पन्न करनेवाले विघ्न भी हो सकते हैं । जैसी जिसकी कक्षा और माँग । इससे उस “विघ्न” शब्द के संबंध में तो उच्चार करनेवाले व्यक्ति के हरएक की अलग-अलग धारणा हो सकती है और वह योग्य भी है । यह प्रसंग जो श्रीमोटा ने आयोजित किया उसमें यह बाबत ठीक उचित भी लगती है । सब कोई जिसमें हिस्सा ले सके वैसे प्रसंग में तो ऐसा शब्द ही ज्यादा योग्य है कि जिसका अर्थ अनेक प्रकार से किया जा सकता हो । फिर शांति कल्याण ‘तरसने’ यहाँ ‘तरसने’ शब्द सहेतुक है । मात्र इच्छा-अभिलाषा-धारणा आदि नहीं चलेगा, ‘तरसना’ ही चाहिए । दूसरी सभी तृष्णाएँ और इच्छाएँ जिसमें विलय हो गई हो, ऐसी ही एकमात्र ‘तरस’ यदि जीवित रहे तो ही शांति-कल्याण प्राप्त कर सकते हैं और निम्न वृत्तियों की आहुति दी जाय, तब ही दिल को जीवन के उत्तम गुणों, ऊर्ध्वगामी वृत्तियों की ओर प्रेरित किया जा सकेगा और इस प्रकार “उन्मुखी दिल” बने वह उसका परम लाभ ।

यह यज्ञ जहाँ शुरू कराया था, उस स्थल से पौन मील ही दूर के स्थल नरोडा में ही उस वक्त लक्षचंडी यज्ञ हो रहा था । जिसमें १२५० जितने तो आहुति अर्पण करनेवाले ब्राह्मणों को इकट्ठे करने में आये थे । १०१ से ज्यादा यज्ञ की बेदियाँ और असंख्य स्वयंसेवक और बहुत कुछ । मानो कि एक छोटा गाँव बसा हुआ हो ! उसमें आहुति देनेवालों में किराये-वाले ब्राह्मण व्यवसाय के तौर पर पेट के लिए आकर बैठे थे । दूसरे अनेक लोग मौके का फायदा उठानेवाले के मुआफ़िक ऐसे यज्ञ में से आर्थिक लाभ लेनेवाले भी थे । लाखों लोग इस प्रचंड यज्ञ को देख गये । “देख गये” शब्द मैं जानबूझकर उपयोग कर रहा हूँ । “दर्शन कर गये” ऐसा शब्दप्रयोग मैंने इरादापूर्वक नहीं किया है, क्योंकि देखकर जानेवालों में कौतुहलता ज्यादा हिस्सा निभाती है । अहमदाबाद शहर में से दिनभर स्पेशियल बसें लगभग २०-२५ दौड़ती रहती थी । इस प्रकार लाखों लोग



देख गये और लाखों रुपये का धुआँ हो गया, हजारों रुपये बेकार गये। प्रजा के लाखों रुपये का पानी हुआ। श्रम और समय का अपार नुकसान हुआ वह अलग। अंधश्रद्धा बढ़ी। आठ ग्रहों की युति के संदर्भ में यह प्रचंड यज्ञ आयोजित हुआ था। अतः इस यज्ञ में न तो किसी ने अपना पारमार्थिक कल्याण चाहा या साधा न तो किसी ने शुभ भावना फलित हो वैसा कुछ किया। सैंकड़ों मन घी की आहुति दी गई, प्रजा की शक्ति, समय और श्री की यज्ञ में आहुति हो गई।

ऐसे प्रचंड प्रचलित मान्यता के प्रणालिकागत महायज्ञ के पास में— पडोश में ही कहें तो भी चले— पूज्य श्रीमोटा का नई तरह का नूतन दृष्टि देनेवाला एक छोटासा यज्ञ आयोजित हुआ था, जिसमें कुछ भी किसी को गँवाना नहीं था।

इस यज्ञ के तीसरे दिन — अंतिम दिन — दोपहर जब मैं शहर में से आया, तब सात से आठ बहनें एकाग्र चित्त से वेदी में जौ और तिल की आहुति अर्पण कर रही थीं। उपर लिखे गये श्लोक के अंत में थोड़े से जौ-तिल की यज्ञ में आहुति दी जा रही थी। यह श्लोक गुजराती में उच्चार किया जा रहा था, इससे उसके उच्चारण से वातावरण में गंभीरता छा रही थी। बहनों के चेहरे पर उल्लास और गंभीरता साथसाथ थे। वे स्वयं “ ऐसे यज्ञ में प्रत्यक्ष हिस्सा ले सकते हैं और आहुति दे सकते हैं, यह नवीन घटना ही उन सब के लिए आनंदप्रद थी।

श्री उपासनीबाबा के स्थानक साकोरी (शिरडी के पास महाराष्ट्र) में वहाँ के आश्रम में बहनें यज्ञ करती हैं सही, दूसरी जगह बाहर भी वे बहन यज्ञ करती हैं, किन्तु उस यज्ञ में उस साकोरी आश्रम में प्रवेश प्राप्त की हुई, तालीम प्राप्त की हुई, दीक्षा प्राप्त की हुई, ऐसी कन्याएँ ही हिस्सा ले सकती हैं। आश्रम की वैसी “कन्याओं” के सिवा दूसरी बहन ऐसे यज्ञ में हिस्सा नहीं ले सकती हैं, जबकि पूज्य श्रीमोटा के नरोडा के यज्ञ में तो नहाधोकर स्वच्छ होकर कोई भी बहन स्वयं हिस्सा ले सकती थी। यह थी उस यज्ञ की विशिष्टता।

पूज्यश्री ने इस प्रकार समाज के समक्ष सांकेतिक प्रतीकरूप से यह यज्ञ प्रस्तुत किया है। इसमें मौलिकता है, विशेषता है और जनसमाज को ऊर्ध्व के प्रति रास्ता बतलाने का संकेत है। लाखों रुपये खर्च करके घी और अन्य द्रव्यों का धुआँ करके जनता की अंधश्रद्धा में वृद्धि करके और साथसाथ श्री, शक्ति और समय की बरबादी करके जो प्रचलित रिवाज की





प्रथा से यंत्ररूपी यज्ञ आयोजित हो रहे हैं, उसके सामने है यह अपूर्व चुनौती।

नरोडा में अपने इस यज्ञ को देखने कई ब्राह्मण आये थे। बहनों को यज्ञ में आहुति देते देखकर मन में दुःखी हुए और पूज्यश्री को कहा, “आप अधर्म कर रहे हो, महाराज!” पूज्यश्री ने जवाब दिया कि उसका पाप और सजा मैं भोग लूँगा। आहुति अर्पण करने के लिए बहनें ही ज्यादा लायकी-वाली और योग्यतावाली हैं—मानना चाहिए। यह बात ब्राह्मणों के गले कैसे उतरे? हमारे समाज में स्त्री एक ऐसा पात्र है कि संसारजीवन में स्वार्पण की आहुतियाँ पल-पल पर देती ही रहती है। उनके द्वारा ही धर्म की भावना अभी टिकी हुई है। उस भावनाओं का वहन बहनों में शुष्क बुद्धि से नहीं, किन्तु हृदय की भावना से हो रहा है। इसलिए ही तो यदि बहनें ऐसे यज्ञ में आहुति अर्पित करने के योग्य न हो तो दूसरा कोई योग्य नहीं है, किन्तु बेचारे पंडितों के गले यह कैसे उतरे? खिन्न हृदय से भूदेव वापस गये।

पूज्यश्री में नीडरता है, साहसिकता है, अपूर्व घटनाओं को योग्यरूप से आयोजित करने की शक्ति है। जैसे मौनमंदिर वह उनकी पूरी विशिष्ट मौलिक खोज है और सक्रिय, कामयाबरूप से उस पर अमल कर दिखाया है। उसकी जोड़ी हिंद में कहीं भी नहीं होगी, लगभग नहीं ही है। वैसा ही इस प्रतीकयज्ञ के बारे में भी कह सकते हैं। जीवन्मुक्तों के पास अनुकरण नहीं होता है, मौलिकता होती है और वह भी पल-पल में बदलती, नित्य नूतन रमणीय होती है। फिर सहजीवन की उनकी पद्धति में विशेषता आ जाती है। बहनें आहुति देती हो, तब बहन ही बैठे और पुरुष साथ में ना हो ऐसा भी नहीं। स्त्री-पुरुष के वैसे भेद तब नहीं हो सकते। यह भी एक विशेषता है।



### ३३. कितनेक प्रतीकों के अर्थ

#### (१) शिवमंदिर में नंदी और कछुआ

प्राचीन काल से हिंदुधर्म ने हमारे ऊपर ऐसी तो गहरी असर की है कि युगों की उन्नति-पतन के बाद भी उसका आंतरतत्त्व अटूट सँभालकर रहा है। वेदों की रचना के काल के बारे में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु ई. स. पूर्व तीन हजार वर्ष जितने पहले उनकी रचना के बारे में तो ज्यादातर विद्वान संमत होते हैं। अर्थात् आज से पाँच हजार वर्ष हुए। इतने वर्ष एक धर्म सतत जगत में जीवित रहा हो, यह विश्व-इतिहास की एक अनोखी घटना है। काल के अनुसार हिंदुधर्म के स्वरूप में भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। मूर्तिपूजा दाखिल हुई। बाहर के आक्रमण के सामने जब-जब प्रजा को टूट पड़ने के लिए तैयार होना पड़ा है, तब सूक्ष्मता को पकड़ने की शक्ति प्रजा ने खो दी। भावना का भी पतन हुआ। ऐसे समय में उस भावना को प्रजाजीवन में जाग्रत रखने के लिए नये-नये साधन अपनाये गये। वे साधन सूक्ष्म के बदले स्थूल ज्यादा थे। उसमें से मूर्तिपूजा दाखिल हुई और मंदिर अस्तित्व में आये। ऋग्वेदकाल में मूर्तिपूजा नहीं थी, तब भावना की प्रचंड लहरों में प्रजा जीती थी। इससे उसकी जरूरत भी नहीं थी। उस समय प्रजा का बड़ा हिस्सा जीवन का हेतु ठीक समझता था, किन्तु जब मानवजीवन की अस्थिरता बढ़ी, तब उस भावप्रधानता टिकना वह असंभव था।

शुरूआत में तो मूर्तिपूजा में भी भावप्रधानता रही। बाद में वह भी प्रचलित लीक की जड़भक्ति में परिवर्तित हुई। इससे आज उस मूर्तिपूजा में जो सभानता जरूरी है, वह शायद ही देखने को मिलती है।

प्रजाकीय जीवन की अस्थिरता में हरएक भावना उसके यथायोग्य रूप में समझ में आवे और सँभाली जाय ऐसी स्थिति नहीं रही थी। इससे हमारे धर्मप्रवर्तकों ने धर्म के प्रसार के लिए कितनेक प्रतीकों का सहारा लिया। उन प्रतीकों के अर्थ आज प्रजा के मानस पर इतना जीवंत नहीं रहा है, जितना वह उसके प्रारंभकाल में था। कालक्रम में वह मिटता गया। ऐसे प्रतीकों के अर्थघटनों विविध होने की भी संभावना है। जिसे जिस प्रकार वे उपकारक हो पड़े, उस प्रकार उसका अर्थ करने में आया। ऐसे एक प्रतीक की बात यहाँ करना है और पूज्य श्रीमोटा ने उसके दिये हुए अर्थघटन को प्रस्तुत करना है।



शिवमंदिर में प्रवेश करते हम नंदी के दर्शन करते हैं। नंदी वह शिवजी का वाहन है सही, किन्तु साथ में उसके पास में कछुआ भी रखा है। वह सब किसलिए उसका हम किसी दिन विचार भी करते हैं ? पूज्य श्रीमोटा ने दिया हुआ उसका अर्थघटन बहुत तार्किक है और साथ ही साथ उतना ही हृदयंगम भी है।

नंदी और कछुआ दोनों महादेव के सम्मुख बैठे हैं, उसका मर्म क्या होगा ? ऐसा प्रश्न पूज्य श्रीमोटा को साधना की शुरूआत में बारबार उठता था। अनेक साधु-संन्यासियों को आपश्री ने पूछकर देखा था, किन्तु उसका संतोषप्रद खुलासा उन्हें नहीं मिल सका था। आखिर में उन्हें समझ में आया कि नंदी यानी उन्मत्त प्राण की कामनाएँ, आशाएँ, तृष्णाएँ, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर इत्यादि जो प्रबल रजस के चिह्न हैं, उसका प्रतीक है। जीवमात्र की चौमासा चरा हुआ उन्मत्त साँड़ के साथ तुलना की जा सकती है। ऐसे जीव का मुख यदि भगवान की ओर हो जाय, जैसे नंदी का मुख महादेव की ओर है वैसे तो वह जीव अपनी सभी उन्मत्त इंद्रियों को अपने में सकेल सकता है। कछुआ जैसे अपने में अपनी तमाम इन्द्रियों को खिंच ले सकता है, वैसे वह जीव कर सके तो उस जीव को शिवस्वरूप होने का सरल हो जाय। शिवस्वरूप होने में जो इंद्रियाँ बहिर्मुख हैं, उनको अंतर्मुख करना बहुत जरूरी है। उसके बिना कभी भी सफल नहीं हो सकते। यह बात कहने के लिए हिन्दू धर्मशास्त्रों ने कछुए के प्रतीक की रचना की। उसका दृष्टांत श्रीमद् भगवद्गीता में भी मिलता है:

*यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।*

*इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ (२/५८)*

यों प्रबल प्राण को यदि भगवान की तरफ मोड़ दें तो ही उस प्राण की शक्ति हमारे आध्यात्मिक विकास में उपयोगी हो सके।

## (२) महेश की स्थिति

ऊपर शिवमंदिर के नंदी और कछुए के अर्थ को पूज्य श्रीमोटा की दृष्टि से देखा वैसे ही उनका एक महेश की स्थिति के संबंध में किया हुआ अर्थघटन अनोखा है।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश की त्रिमूर्ति हिन्दुधर्म में बहुत पूजी जाती है और उसमें भी महेश तो जैसे बहुजन समाज के आराध्य देव हो, ऐसा हो गया है। महेश का स्वरूप और स्थिति इन तीनों में अलौकिक और अनोखी है।





एक प्रकार से ऐसा भी कह सकते हैं कि महेश-शिव-महादेव में परस्पर आमने-सामने ऐसी परिस्थिति की परिपूर्णता रही हुई है। सामान्य रीति से शिवजी की मूर्तियों में और उनके स्वरूप की कल्पना में हम उनकी दाहिनी जंघा पर पार्वतीजी बिराजमान हुए देखते हैं। यह पार्वतीजी एक विजातीय तत्त्व है और नारीतत्त्व होने से कामवासना भोग का प्रतीक जैसा लगे। किसी देखनेवाले को शायद पूरी कामुकता भी देखे। जबकि दूसरी तरफ शिवजी के स्वरूप में हम त्रिनेत्र भी देखते हैं, जिस त्रिनेत्र ने कामदेव को जलाकर भस्म कर दिया है। यह दो आमने-सामनेवाली स्थिति है। एक तरफ लावण्यमय स्त्रीरत्न जंघा पर बिराजमान है। दूसरी ओर मदन को उन्होंने जलाकर भस्म कर दिया है।

शिवजी के स्वरूप में भभूत-रख्या लगाकर बिलकुल जटाधारी सिर्फ कमर पर व्याघ्रचर्म लपेट कर जैसे कि बिलकुल निष्किंचन, निर्धन और निर्लेप स्थिति का हमने स्वीकार किया है। जबकि उनकी कथा में पुष्कल धन का स्वामी-देवों का कोषाध्यक्ष कुबेर उनका दासानुदास है। इसमें भी दो अंतिम स्थिति का स्वीकार है।

उनको देवों के देव की कल्पना की गई है। देवों की स्थिति सभी योनिओं में उत्तम स्थिति है। ऐसी उत्तम प्रकार की स्थितिवालों का वह देव तो दूसरी ओर वह गणों का अधिपति है। यह गण, भूत, पिशाच इत्यादि श्मशान में रहनेवाले, मुट्टीभर हड्डियोंवाले, बिना ठिकाने के, डुगडुगी बजानेवाले, जनसमाज से बिलकुल दूर रहते हैं। वे गणों के भी स्वामी हैं। पशुओं के भी स्वामी हैं, इसलिए पशुपतिनाथ कहे गये। इस प्रकार देव और गण दोनों के वे स्वामी हैं। दोनों उनके दास हैं।

**विष्णु और ब्रह्मा में यह स्थिति नहीं है। वे दोनों एक ही छोर के स्वामी हैं, जबकि शिव में दोनों छोर मिल गये हैं। यह है शिव की विशिष्टता।**

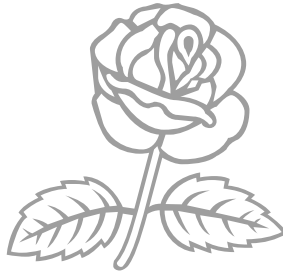
यहाँ एक वस्तु पर अँगुलीनिर्देश करना गलत नहीं है। आत्मसाक्षात्कार के बाद जो मुक्त की दशा में विहार करते हैं, उनकी स्थिति कुछ अंश में शिवजी के साथ साम्य रखती है। मुक्त को हम द्वंद्वातीत, गुणातीत कहते हैं, किन्तु वह द्वंद्वों या गुणों के बीच उनकी खेलने की स्थिति प्राप्त होने के बाद ही हो सकती है। वे दूसरी अंतिम सीमा पर रह सकते हैं और उससे भी पर हो सकते हैं। जीवदशा में रहनेवाले-अज्ञानी मनुष्य उस परस्पर अंतिम सीमा पर नहीं रह सकता। वह किसी भी एक सीमा को वश होकर चलता है। मुक्त का वैसा नहीं है। इसीलिए तो प्रकृति





से पर है। इसीलिए ही, ज्ञानी को प्रकृति का स्वामी और अज्ञानी को प्रकृति का गुलाम कहा है।

शिव और मुक्त की स्थिति में कितना साम्य ! इसलिए ही तो जीव में से शिव होने का कहा गया होगा न।



### ३४. मौनमंदिर में मुखिया

नडियाद के पास का एक गाँव । उस गाँव के एक मुखिया की पत्नी आश्रम पर कभी-कभी आती थीं । उनको मौन में बैठने का मन हुआ । घरसंसार के कारण पहले से दिन तय करके बैठना संभव नहीं था । इससे आश्रम में नोंध करके रखा था कि मौनमंदिर खाली पड़े तो उनको बुलाना । इससे आश्रम में से एक बार उनको पत्र भेजा गया “ मौनरूम खाली है । आपको मौन में बैठना हो तो तुरंत आईए । “ आश्रम में तो ऐसी धारणा थी कि वह बहन दूसरे दिन आयेंगे । किन्तु वह बहन तो पत्र मिलते तुरंत ही आये और वह भी उनके प्रतिकूल संजोगों में – पति बाहरगाँव गये थे, इससे बालकों को अन्य को सौंपकर अकेले चले आये । शाम के सात बजे के करीब आ पहुँचे और तुरंत मौन में बैठ गये । तीन दिन की मौनअवधि दरमियान उनको बहुत अच्छा लगा, ठीक-ठीक भाववृद्धि का अनुभव किया ।

उन दिनों में पूज्य श्रीमोटा मथुरीबहन के भजनों के लिए जो कोई आमंत्रित करते उनके वहाँ जाते थे । आपश्री ने दक्षिणा की शर्त रखी थी । जो कोई रु. २००/- पधरावनी करवाने के देवे उसके वहाँ जाना । इस मौन में बैठनेवाली मुखियापत्नी के कुटुंब की स्थिति साधारण थी । मध्यम से भी निम्न । फिर भी मौन में से उठकर उन्होंने पूज्यश्री को अपने घर से रु. २००/- का खर्च करके पधरावनी करवाने की व्यवस्था की । भजनों का कार्यक्रम भी आयोजित किया । फिर, उसी दिन सुबह शाम पचास-पचास व्यक्तियों को स्वयं ने रसोई करके उत्साह से भोजन करवाया ।

इस प्रसंग के बाद उस बहन ने अपने पति को मौन में बैठने की प्रेरणा दी होनी चाहिए । एक समय पटेल आश्रम में आये । पूज्य श्रीमोटा ने उनको मौन में बैठने के बारे में पूछा । पटेल ने हाँ कहा और मौन में बैठे भी सही ।

किन्तु मौन में बैठने जाने पर पटेल का अनुभव कुछ अलग ही रहा । अंदर बंद हुए और पाँच ही मिनट में अत्यंत घबराहट के साथ बोल उठे, “मुझे बाहर निकालो । पेट में दर्द हो रहा है । घबराहट और अकुलाहट हो रही है । बिलकुल मुआफ़िक नहीं आ रहा है ।” यह सुनकर बाहर से मुखिया को बहुत समझाया गया, “ आप थोड़ी देर रुक जाईये । सब ठीक





हो जायेगा। आपको मुआफ़िक्र आ जायेगा।” किन्तु मुखिया नहीं माने। उन्होंने बाहर आने का आग्रह जारी ही रखा। मथुरीबहन उस वक्त आश्रम में उपस्थित थे। उन्होंने बाहर से भजन गाकर मुखिया को जोश चढ़ाने का प्रयास किया। शाम को पाँच बजे तक जोश रहा भी सही, किन्तु आखिरकार पटेल हार गये और पाँच बजे तक तो बाहर निकल ही गये। पाँच बजे तक में तो मुखिया ने तीन-तीन बार बाहर निकालने के लिए ज़िद की थी।

बाहर निकलकर मुखिया तो अपने गाँव गये। किन्तु सभी आश्रमवासियों के आश्चर्य के बीच दूसरे दिन वापस आये और कहा, “मुझे मौन में फिर से बैठना है।” घर पर मुखिया गये बाद में क्या हुआ वह तो कुछ मालूम नहीं हुआ। शायद उनकी पत्नी ने कुछ कहा भी हो। क्या कहा होगा, वह तो वे स्वयं ही जाने। किन्तु ऐसा लगता था कि उनकी पत्नी ने उनको जोश दिलाया होना चाहिए। वर्ना इस प्रकार तुरंत अपनेआप मौन में फिर से बैठने नहीं आवे।

अब ऐसा हुआ था कि मुखिया के जाने के बाद १५-१६ वर्ष का एक लड़का उस रूम में बैठा था। कुछ घंटे बीतने के बाद वह भी ऊब गया था। चौबीस घंटे में तो वह थक गया था। उसे बाहर आने की तीव्र इच्छा थी और उस प्रकार की चिट्ठी भी उसने लिखकर रखी थी। एक ओर उसका चिट्ठी लिखने का हुआ और दूसरी ओर मुखिया का आश्रम पर फिर से मौन में बैठने के लिए आना हुआ।

मुखिया फिर से अंदर बैठे। उन्होंने ठीक-ठीक पुरुषार्थ भी किया। एक रात भी रहे, किन्तु दूसरे दिन सुबह उनकी सहनशक्ति खत्म हो गई। इससे उन्होंने बाहर निकल आने की इच्छा जताई। उसी समय सूरत के तंबाकू के व्यापारी श्री बाबुभाई तमाकूवाले अहमदाबाद गये थे और वहाँ से नडियाद आश्रम पर दो-एक दिन मौन में बैठने का मिले ऐसी इच्छा से आये। मुखिया को बाहर निकाला गया और उनकी जगह पर श्री बाबुभाई तमाकूवाले को बिठाया गया।

मुखिया बाहर तो आये, किन्तु पूज्य श्रीमोटा उनकी परिस्थिति जान गये थे। उन्होंने चातुरी से मुखिया को गाँव नहीं जाने दिया। मुखिया तो अपने घर पर “पाँच दिन के लिए बैठने जा रहा हूँ” ऐसा कहकर आये थे। अब वापस इसप्रकार जावे तो भारी मानभंग की दशा उन्हें सहन करना पड़े। इससे पूज्य श्रीमोटा ने उनको सलाह दी कि अब ये पाँच दिन आश्रम में रहे। हम..... बहन को (मुखिया की पत्नी को) बतायेंगे नहीं। ऐसी सांत्वना भी दी। इससे मुखिया आश्रम में पाँच दिन रहे।

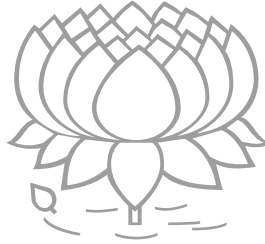




उन पाँच दिनों के निवास के दरमियान मुखिया ने उनकी पत्नी की तत्परता और हुलास के संबंध में बताया। उस बहन ने इक्कीस दिन मौन में बैठने की इच्छा व्यक्त की थी। फिर जब-जब आश्रम के मौन में बैठने-वालों में से कोई अटकेगा या ढीला पड़ेगा तो वह बहन संक्षिप्त नोटिस पर भी मौन में बैठने को तैयार है और मुखिया का उस बाबत में समर्थन है ऐसा भी मुखिया ने कहा।

इस प्रकार बिना प्रयोजन एक के बाद एक सबका मौन में से बाहर आना और उसी वक्त तुरत ही दूसरे किसी बैठनेवाले का आ जाना वह ऐसे सुंदर योगानुयोग का अनुभव हुआ कि जैसे कोई गैबी व्यवस्था न हुई हो !

ऐसे एक सामान्य गाँव की बहन का ऐसा शऊर देखकर उनके प्रति मानआदर से मस्तक झुक जाता है।



### ३५. पूज्य श्रीमोटा के दानों की भूमिका

पूज्य श्रीमोटा को आज से चालीस वर्ष पूर्व एक भाई ने रु. १०००/- की निजी भेंट दी थी। वह रकम उन्होंने कराची जाकर सीधी एक प्रांत के राहत फंड में दे दी। उसी समय में दूसरे एक भाई ने रु. ५०००/- निजी भेंट के दिये थे, वह आपश्री ने अपने नाम पर लिखे तो जरूर, किन्तु उसमें से एक पाई का भी उपयोग नहीं किया। उस रकम का उपयोग कुंभकोणम् आश्रम बनाने में किया।

उसी प्रकार आपश्रीको निजी मिलनेवाली हजारों की रकमों का उपयोग सूरत और नडियाद आश्रम बनाने में किया। इन दोनों आश्रमों को बनाने के लिए अलबत्ता फंड पूज्यश्री के प्रशंसकों ने किया था और जनता के पास से उसके लिए रकम इकट्ठी की थी। फिर भी लाक्षणिकता यह कि पूज्यश्री ने उनको उस-उस अवधि में मिलती निजी सभी रकम इन आश्रमों की स्थापना में दे दी थी, जिसकी जोड़ अंदाजन् १९५०-५५ की अवधि के दस हजार जितना होगा। फिर भी आश्चर्य यह है कि उन्होंने अपने इन आश्रमों में कहीं भी अपना कानूनी मालिकी-हक भी नहीं रखा है। कुंभकोणम्, नडियाद और सूरत के हरिःॐ आश्रमों-ये तीन मुख्य आश्रम उनकी स्वयं की देखभाल में तैयार हुए माने जायेंगे। (डीसा का और नरोडा का आश्रम अन्य अनुयायियों ने स्थापित किये माने जायेंगे। अब तो वे भी अस्तित्व में नहीं हैं।) **इन तीनों आश्रम की कानूनी मालिकी स्थानिक ट्रस्टियों की है। यदि वे ट्रस्टी चाहते तो पूज्यश्री को आश्रम में प्रवेश करने से भी रोक सकते थे। यदि उनका कोई भी काबूहक उस पर था तो वह सिर्फ प्रेमभाव का ही था। हम जानते हैं कि मुक्त कभी कानूनी काबू रखते नहीं हैं, वैसा हक मिला हो तो भी उसका उस प्रकार से उपयोग नहीं करते हैं। उनकी निःस्पृहता अद्भुत होती है।**

हम अनेक जगह पर देखते हैं कि महंतों ने, मठाधिपतियों ने, आश्रमाधिपतियों ने अपनी-अपनी वैसी संस्थाओं पर अपना निजी कानूनी अधिकार रखा होता है। इस प्रकार का अनिष्ट है ऐसा कहने का मेरा बिलकुल हेतु नहीं है। उसकी योग्यता-अयोग्यता का आधार तो उस अधिकार का उपयोग किस हेतु से और किस भाव से होता है, उस पर रहा हुआ है। किन्तु जहाँ मालिकीहक ही नहीं रखा गया है, वहाँ वह प्रश्न ही



किसी को नहीं उठ सकता है, और वह उस प्रकार से बहुत अच्छा है।

इस प्रकार पूज्यश्री ने लाख रुपये ऊपर के मूल्य के आश्रम के मकानों पर का अपना मालिकी हक रखने को चाहा होता तो खुशी से रख सकते थे और कोई भी उसके सामने एतराज नहीं कर सकता था। फिर भी आपश्री ने आरंभ से ही अपनी निःस्पृहता की नीति through out एकसमान रीति से धारण करके उस पर अमल भी किया।

फिर, अपनी ऐसी संस्थाएँ होते हुए भी उन संस्थाओं को तनाव में रखकर, मितव्ययिता करा करके, कितनीक बाबतों में सख्त होकर, कमी का अनुभव करवाकर, दूसरों की नाराजगी सहन करके भी वे उनको निजी मिलनेवाली रकम आश्रम के रोजिंदा निभाव खर्च में उपयोग नहीं करने देते हुए, दूसरी योग्य अलग-अलग संस्थाओं को मदद करने में उपयोग करते। मेरी समझ अनुसार उनकी यह एक विशेषता थी।

सामान्यरूप से दूसरी धार्मिक, सामाजिक या आध्यात्मिक संस्थाएँ अपनी संस्थाओं में ही अपने को मिलती रकम खर्च करती हैं और कोष इकट्ठा करती हैं, जबकि पूज्यश्री ने अनोखी नीति धारण की थी, जिसे शायद अपवाद नहीं तो बहुत ही छोटी लघुमती में रख सकते हैं सही।

बिलकुल छोटे से लगाकर विशाल प्रमाण की सहाय उन्होंने दी है। अपनी जान पहचान का बालक हो और वह यदि उसकी कक्षा में प्रथम आया हो तो उसे पाँच-पाँच रुपये इनाम हमेशा देते थे। शिल्प, संगीत इत्यादि ललित कलाकारों को हमेशा सीधी और परोक्षरूप से मदद कभी-कभी करते थे। ऊर्ध्व प्रकार के साहस करनेवालों के प्रति भी उनका अभिगम हमेशा था। अब तो दान का फलक इतना तो विशाल हो गया है कि आश्रम की खास पुस्तकें उसके लिए हैं, वे देखें तो ही पूरा ख्याल आ सकता है।

पूज्यश्री के आध्यात्मिक क्षेत्र को मर्यादा नहीं है, सर्वतोमुखी उनकी आध्यात्मिकता थी। किसी भी क्षेत्र में अच्छा काम देखकर उन्हें जोश आ जाता और उसे प्रेरणा और उत्साह मिले वैसा उनका सदा के लिए अभिगम रहता है। सहानुभूति और साथ भी रहता था।

ऐसी संस्थाओं को और आश्रमों को चालू निर्वाह के लिए अमुक सीमित फंड हो वह ठीक है, किन्तु उससे ज्यादा फंड इकट्ठा करने के पक्ष में वे नहीं थे। इसीलिए ही तो उनको मिलती निजी रकम आश्रम के हिसाब में न जुड़वाते हुए अलग रखकर उसका सद्व्यय वे करते।

किसी को तो यह प्रश्न हो सकता है कि ऐसी निजी रकम लेना ही





क्यों ? फिर, लेना और दान में दे देना ! उसका रहस्य मुझे जो समझ में आया वह यह है :-

ऐसी लेनदेन से एक प्रकार का आकर्षण उत्पन्न होता है । सामने-वाले की भावना का विकास होता है, उसकी भावना का पोषण होता है, बढ़ती है और लेनेवाले व्यक्ति में (पूज्यश्री में) देनेवाले का रस जाग्रत होता है । हमने किसी को कुछ नहीं दिया होगा— व्यक्ति या संस्था को— वहाँ तक उसमें हमारा साधारण रस जाग्रत नहीं होता है । किन्तु यदि किसी संस्था को या व्यक्ति को कुछ दिया होगा तो उसमें हमारा रस सक्रिय होते हुए अनुभव करेंगे ।

फिर, जगतजन की ऐसी लक्ष्मी दूसरे प्रकार से— बिना ठिकाने की रीति से या भोग-विलास में या बिना जरूरत के खर्च में खर्च हो जानेवाली हो, उसके बदले एक मुक्त के हाथ से लोगोपयोगी कामों में वह खर्च हो तो सदैव उत्तम ही है ।

जिस संस्था के कोष बढ़ते हैं, उसे फिर लोगों के साथ की जरूरत नहीं होती है । जनता जनार्दन के प्रति उपेक्षा या अवज्ञा भी आ जाती है । आलस, बिनजरूरी खर्च, ऐश या विलासिता इत्यादि भी घूस जा सकते हैं । यह सब पूज्यश्री चला सके ऐसा नहीं था, इससे उन्होंने निर्वाहखर्च की रकम जमा न होने देते हुए अनेक योजना में खर्च कर दी थी ।

पूज्यश्री के ऐसे आर्थिक वर्तन से कइओं को इस संबंध में भ्रम और भ्रमना होने के बारे में मुझे जानकारी है । “श्रीमंतों को सम्मान और गरीबों को अनादर” ऐसा कहनेवाले भी मैंने सुना है । बाहर कहनेवाले तो नहीं, किन्तु मन में माननेवाले तो बहुत से हैं । उन सब ने पूज्यश्री को समझने में सहाय हो वैसा बुद्धि की और भक्ति की सहाय लेकर गहरा विचार करने की जरूरत है । विभूतियों का व्यवहार अनोखा रहेगा । वे किसी का अनुकरण नहीं करते हैं । उनके रीतिरीवाज मौलिक होंगे, कितनीक बार तो विचित्र भी लगते हैं । विभूति अर्थात् लोगों की नजर में “विचित्र” ऐसा भी एक सुप्रसिद्ध और विद्वान लेखक ने लिखा है । वह ऐसे ही किसी अर्थ और अनुसंधान में होगा ।

पूज्यश्री की “विचित्रताएँ” तो अभी कुछ भी नहीं थी । पूज्य श्रीउपासनीबाबा का जीवनचरित्र पढ़नेवाले सहज रूप से कह सकेंगे कि उनकी तुलना में पूज्यश्री की तो कुछ भी खास विचित्रता नहीं कही जायेगी ।

**साहस, शौर्य, हिम्मत, शूरवीरता के कार्यों में कालिज के युवानों के**





लिए रकम दान में देना वह है पूज्य श्रीमोटा की विशेषता । किसी आध्यात्मिक जीवन्मुक्त पुरुष द्वारा इस प्रकार इतनी बड़ी रकम दान में देने की घटना की मुझे तो कोई दूसरी जानकारी नहीं है । बहुत से आध्यात्मिक जीवनचरित्र मैंने पढ़े हैं और दूसरे आध्यात्मिक जीवन्मुक्तों के उनके साहित्य द्वारा अच्छी निकटता में आने का भी प्रभुकृपा से हुआ है, किन्तु कहीं भी ऐसा नहीं जाना है ।

पूज्यश्री पाई-पाई की मितव्ययिता आश्रम में करवाते थे । किरासन के छोटे दीये का उपयोग करते । दातुन की छोटी पतली फाँक का उपयोग कराते थे । सब कुछ का उपयोग है ही, वह था उनका मुद्दालेख । भोजन में अन्य को तो अति सख्ती और कई बार तो अत्यंत कठिनाई लगे । दाल-भात जैसा मामूली खुराक भी आश्रमवासियों को पर्याप्त इच्छा अनुसार शाम को नहीं मिलता था । दाल-भात आश्रमवासीओं को शाम को नहीं पोसा सकते ऐसा ही मानो मानते थे । अन्य आश्रमों में मुख्य खुराक दाल-भात का ही देखा है । दाल-भात में कोई ऐश नहीं है और यह बात भी पूज्यश्री अच्छी तरह समझते थे । फिर भी भोजन में हो सके, वहाँ तक सादाई और कठिनाई आश्रमों में रखी जाय वैसा वे चाहते थे ।

बाहर से कोई कुछ लावे तो यदि वह ज्यादा दिन नहीं रह सके वैसा हो तो ही उसका उपयोग करने देते थे । अन्यथा, नमकीन और मिठाई या ऐसा कुछ ज्यादा दिन टिक सके ऐसा हो तो उसका उपयोग आश्रमवासियों को नहीं करने देते थे, वैसा सब मेहमानों के लिए उपयोग किया जाता था । केले जैसे फल-फलादि भी मेहमानों के लिए ही रखने का कहते थे । पाँच पैसे भी गलत न खर्च हो वैसी उनकी इच्छा रहती थी । ऐसे श्रीमोटा ने दीन, हीन, दलितों के लिए हजारों की रकम देना शुरू कर दिया था ।

इस पर से एक पढ़ा हुआ प्रसंग याद आता है । पंडित मदनमोहन मालवियाजी बनारस हिंदु युनिवर्सिटी के लिए फंड उगाहने कलकत्ता में एक मारवाडी के वहाँ गये । वह मारवाडी सेठ, अपने पुत्र ने एक-दो दियासलाई गलत तरीके ज्यादा खराब करने पर उस पर बहुत चिढ़े । इससे पंडित मदनमोहन मालवियाजी को लगा, "यह क्या देगा? ऐसा विचार कर उठकर चलने लगे । सेठ ने आने का प्रयोजन पूछने पर, "दूसरी बार से आऊँगा" ऐसा कहा । आखिर बहुत आग्रह करने पर पंडितजी ने आने का प्रयोजन कहा । उस मारवाडी सेठ ने कोरा चेक पंडितजी के सामने रख दिया और उसमें रकम लिखने का उनके पर ही छोड़ा । पंडितजी ने जब उस दियासलाई की घटना के संबंध में पूछा कि इतने से के लिए लड़के को क्यों डाँटा ? तब सेठ ने जवाब दिया, "बिना जरूरत के एक तीनके का भी





दुरुपयोग से दुःख होना चाहिए और जरूरी दान लाखों के भी कर सकते हैं।”

अब इस घटना में मारवाडी सेठ का डाँटना योग्य था या नहीं वह चर्चास्पद है, किन्तु हमें उसके साथ निसबत नहीं है, निसबत है मात्र उपयोग और दुरुपयोग की तुलना का।

इसी प्रकार पूज्य श्रीमोटा ने मितव्ययिता करके-करवा के इकट्टी की हुई रकम का सार्वजनिक अच्छे और सच्चे उपयोग में व्यय करवाया है। उनके जीवन का यह पहलू बहुतां को मालूम नहीं है, इससे यहाँ लिखा है।

शायद बहुतां को गलत या सही ऐसा प्रश्न उठे कि “वैसे तो पूज्यश्री दान में नहीं मानते थे, मुफ्त का देने में नहीं मानते थे और दूसरे उनके चरणों पर जो रकम रखे उन रकमों का ऐसा दान करते तो ऐसी चरणों पर रखी हुई रकम का स्वीकार ही क्यों करना ?” अनेक बार तो कितनेक को बुरा भी लगता है सही कि “बिलकुल गरीब ऐसे प्रशंसकों द्वारा चरणों पर रखी हुई भेंट का क्यों स्वीकार करते थे ? जिन्हें भोजन की और जीने की भी कठिनाई हो वैसे का क्यों स्वीकार करते थे ? इतना ही नहीं, किन्तु ऐसे को देने के लिए प्रोत्साहन देते थे। ऐसा क्यों ?”

इसका जवाब यह है कि उसका गूढ़ हेतु है। इस प्रकार लेनदेन के पुल द्वारा मुक्त के आत्मा के साथ उस भेंट देनेवाले जीव का भावसंबंध जुड़ता है। निकट के संपर्क में आ सकते हैं। आर्थिक रीति से सुखी और श्रीमंत तो दान करते हैं, तब उनके सूक्ष्म अहम् को संतोष मिलता है और पोषण होता है। ऐसे कितनेक तो इसका गर्व लेते हैं, कोई विरल श्रीमंत जीव ही ऐसे स्पष्ट अहम् में से चेत जाते हैं, और वैसे तो अनामी रह कर गुप्तरूप से दान करते देखे और जाने हैं। अरे! ऐसों में भी सूक्ष्म अहम् या स्थूल संतोष या इतिकर्तव्यता का पोषण होते हुए जाना गया है। वैसे जीव का आध्यात्मिक विकास रुक जाने की भी संभावना है। इससे मुक्त के द्वारा उनके हाथ से होनेवाला दान श्रेष्ठ प्रकार का है और देनेवाले और लेनेवाले दानों के लिए कल्याणकारक है। देनेवाला यानी पूज्यश्री नहीं, किन्तु उनके चरणों में रखनेवाला वह “देनेवाला” है। इस प्रकार दोनों को इसमें लाभ है। मुक्त तो उलटे हमारी देने की उपाधि और देने का भार आनंद से उठाते हैं और श्रम लेते हैं और उस प्रकार हमारे पर उपकार ही करते हैं।

॥ हरिःॐ ॥





॥ हरिःॐ ॥

## आरती

ॐ शरणचरण लीजिए, प्रभु शरणचरण लीजिए

पतित को उबार लीजिए (२) कर पकड़ हृदय लगा लीजिए...

ॐ शरणचरण.

मन-वाणी के भाव आचरण में उतरें प्रभु (२)

मन, वाणी और दिल को (२) कृपा कर एक करें...

ॐ शरणचरण.

सभी स्वजनों के साथ, दिल में सद्भाव जगें, प्रभु (२)

भले अपमान हुए हो (२) तब भी भाव बढ़ें...

ॐ शरणचरण.

हीन प्रकार की वृत्ति; ऊर्ध्वगमन करने, प्रभु (२)

प्रभुकृपा से मथन करावें (२) चरणशरण पाने...

ॐ शरणचरण.

मन के सकल विचार, प्राण की वृत्ति, प्रभु (२)

बुद्धि की सभी शंकाएँ (२) चरणकमल में द्रवित हो...

ॐ शरणचरण.

जैसे भी हो प्रभु, वैसे ही दिखें, प्रभु (२)

मति मेरी खुली रहे (२) स्पष्ट ही परखें...

ॐ शरणचरण.

दिल में कुछ भरा हो, उससे सब उल्टा, प्रभु (२)

मुझसे कभी न हो (२) ऐसी मति दें...

ॐ शरणचरण.

जहाँ जहाँ गुण और भाव, वहाँ दिल मेरा टिके, प्रभु (२)

गुण और भाव की भक्ति (२) मेरे दिल में संचरित करें...

ॐ शरणचरण.

मन, मति, प्राण प्रभु । तुम्हारे भाव में तल्लीन रहे, प्रभु (२)

दिल में तेरी भक्ति की (२) लहरें उछलें...

ॐ शरणचरण.

- मोटा







॥ हरिः ॐ ॥

### साधना-मर्म

१. मुख से या मन में जागृत रूप से जप : साथ ही हृदय-प्रदेश पर ध्यान तथा चेतना के साथ चिंतन सह भावनात्मक भाव का रटन ।
२. प्रत्येक क्षण में सतत समर्पण : अच्छे तथा बुरे दोनों का ।
३. साक्षीभाव, जागृति, विचारों की श्रृंखला न जोड़ें ।
४. हो सके उतना अधिक वाचिक और मानसिक मौन रखें, अभ्यस्त हो, अत्यधिक शरणभाव से जीवन में चेतनापूर्वक जागृति को व्यवस्थित करें ।
५. आग्रह प्रभु-चिंतन के अलावा सभी आग्रहों को छोड़ें, नम्रता रखें, शून्य होने का ध्येय रखें ।
६. बहुत भावपूर्ण हृदयस्थ होकर आर्द्र और आर्तभाव से प्रार्थना करें, भगवान को सभी सुख-दुःख बतलाते रहें, उनके साथ आत्मनिवेदन द्वारा बहुत गहरा व्यक्तिगत संबंध स्थापित करें, मन में कुछ भी विचार न आने दें । खाली रहो ।
७. आ पड़ते काम प्रभु के समझो । जरा भी कचवाट बिना उसे खूब प्रेमपूर्वक करो । प्रत्येक प्रसंग, घटना हमारे कल्याण के लिए ही है और प्रत्येक प्रवृत्ति हमारे अपने विकास के लिए होनी चाहिए । प्रत्येक प्रसंग के पीछे प्रभु का गूढ़, शुभ संकेत रहा हुआ है ।
८. आत्मलक्षी-अंतर्मुखी बनें, मात्र अपनी दुनिया में रहें । जान बुझकर अपने आपको न उलझने दें ।
९. अन्य की सेवा ही प्रभु सेवा समझें, सेवा लेनेवाले, सेवा देनेवाले पर, सेवा करने का अवसर देकर उपकार करते हैं । राम ने दिया है और राम को दे रहे हैं, वहाँ मेरा-मेरा कहाँ रहा ? तुम्हारा इस जगत में है क्या ?
१०. प्रत्येक कर्म, प्रत्येक बातचीत, व्यवहार हमारे ध्येय को गति दे ऐसे उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर करें । पढ़ते-लिखते समय और प्रत्येक कर्म करते समय भाव की स्मरणधारणाओं का अभ्यास करते रहें ।
११. वृत्ति का मूल खोजें, उसका पृथक्करण करें । उसमें खोये बिना, उसका तटस्थतापूर्वक और स्वस्थतापूर्वक निरीक्षण करें ।
१२. प्रभु की प्रत्येक कला, सौन्दर्य, रम्यता, विशुद्धता आदि प्रसादियों में रहे हुए भाव का, उसके-उसके अनुरूप भाव का, हमारे में तब अवतरण हो ऐसी प्रार्थना करें ।





१३. ऊर्मि, आवेश और प्रेमभाव को ऐसे ही बह न जाने दें, एवं उसमें मिश्रित मत भी हो जाना। उसका साधना में उपयोग करें, तटस्थता बनाए रखें।
१४. खाते और पानी पीते हुए जीवन में चेतनशक्ति के अवतरणभाव की प्रार्थना करें। शौच, पेशाब आदि क्रियाओं के समय विकारों, कमजोरियों इत्यादि के विसर्जनभाव की प्रार्थना करें।
१५. स्थूल का ख्याल त्यागकर सूक्ष्म तत्त्व को ध्यान में रखें। वृत्ति की शुद्धि करें, भाव की वृद्धि करें।
१६. प्रभु सचराचर हैं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना विकसित करें।
१७. प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु के उज्ज्वल पक्ष को देखो। किसी के भी काजी न बनें, किसी भी विषय पर जल्दी से अभिप्राय न दें, वाद-विवाद न करें, अपना आग्रह न रखें, दूसरों में शुभ हेतुओं का आरोपण करें, मानसिक और सार्वत्रिक उदारता जीवन में प्रगट करें, अत्यधिक प्रेमभाव बनाए रखें, प्रकृति का रूपान्तर करना है, उसे लक्ष में रखकर प्रकृतिवश होनेवाले कर्मों को वश न होकर आगे बढ़े, फल की आसक्ति त्यागें, स्वयं पर होते अन्यायों, आ पड़ते दुःखों आदि का मूल हम में ही है, ऐसा दृढ़तापूर्वक मानें, गुरु में प्रेमभक्तिभाव दृढ़ बनाये रखें। अभीप्सा इनकार और समर्पण का त्रिवेणीसंगम उद्भव करो, सदा प्रसन्नता बनाए रखें, कृपा और पुरुषार्थ के युगल को जीवन में उतारें, प्रत्येक कर्म के आदि, मध्य और अंत में प्रभु की स्मृति बनाए रखें, मन को निःस्पंद करें, रागद्वेष निर्मूल करने की जागृति रखें, हुए आध्यात्मिक अनुभवों को नित्य के जीवन में आचरण में लावें, कहीं भी किसी भी दायित्व से भागें नहीं, जो भी प्रभु-इच्छा से प्राप्त हो, उसे प्रभुप्रसाद समझकर प्रसन्नता से सत्कार कर लें। कहीं भी किसी से तुलना या ईर्ष्या न करें, अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति यह मन का भ्रम है, जीवन-साधना के लिए सब कुछ सानुकूल ही होता है; प्रभुमय—उनके मूक यंत्र—होने की ही बस एक उत्तेजना अब जीवन में रखें।
१८. कर्म में, कर्म का महत्त्व नहीं है, परंतु जीवन के भाव का सतत एकसमान, सजग चिंतन रहा करे, यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। ऐसा सजग अध्ययन कर्म करते हुए प्रत्येक क्षण में बनाए रखें।

- श्रीमोटा





॥ हरिः ॐ ॥

## पूज्य श्रीमोटा के जीवन का परिचय

- जन्म : ता. ४-९-१८९८ भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी,  
विक्रम संवत् १९५४
- स्थान : सावली, जिला - वडोदरा (गुजरात)।
- नाम : श्री चूनीलाल
- माता : श्रीमती सूरजबा
- पिता : श्री आशाराम
- जाति : भावसार
- उपनाम : भगत
- १९०३ : कालोल में निवास, गरीबी का आरंभ।
- १९०६ : मजूरी के काम।
- १९१५ : तौला की नौकरी।
- १९१६ : पिता की मृत्यु।
- १९०५ से १९१८ : टुकड़ों में पढ़ाई के साथ कठिन मजदूरी।
- १९१९ : मैट्रिक उत्तीर्ण।
- १९१९-२० : वडोदरा कॉलेज में।
- दि. ६.४.१९२१ : कॉलेज का त्याग।
- १९२१ : गुजरात विद्यापीठ में।
- १९२१ : विद्यापीठ का त्याग। हरिजन सेवा का आरंभ।
- १९२२ : मिरगी की बीमारी से तंग आकर गरुड़ेश्वर की कगार से आत्महत्या का प्रयास, दैवी रक्षा; 'हरिः ॐ' जप से रोग मिटाने का सफल प्रयोग।
- १९२३ : 'तुज चरणे' तथा 'मनने' की रचना।
- १९२३ : वसंतपंचमी को पूज्य श्रीबालयोगीजी द्वारा दीक्षा।  
श्रीसद्गुरु केशवानंद धूनीवाले दादा के दर्शन के लिए साईंखेड़ा गए। रात्रि को श्मशान में साधना और दिनभर प्रभुप्रीत्यर्थ हरिजन सेवा।
- १९२४ : डाकोर में मगरमच्छ से मिलन, हिमालय की प्रथम यात्रा।





- १९२६ : विवाह - हस्तमिलाप के अवसर पर समाधि का अनुभव । हरिद्वार कुंभमेले में श्रीबालयोगीजी की तलाश ।
- १९२८ : हरिजन आश्रम, बोडाल में सर्पदंश - परिणाम स्वरूप 'हरि: ॐ' जप अखंड हुआ । ६३ धूनी के बीच में २१ दिन की साधना ।
- १९२८ : 'तुज चरणे' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।
- १९२८ : साकुरी के श्रीउपासनीबाबा का नडियाद में आगमन, उनके आदेश पर साकुरी गये, वहाँ मलमूत्र के बिस्तर में लगभग ग्यारह दिन की साधना ।
- १९३० : मन की नीरवता का साक्षात्कार ।
- १९३० से ३२ : इस दौरान साबरमती, विसापुर, नासिक और यरवडा जेल में । उद्देश्य देशसेवा का नहीं, साधना का । कठोर परिश्रम और लाठी चार्ज के दौरान प्रभुस्मरण - मौन । विद्यार्थियों को समझाने के लिए विसापुर जेल में सरल गुजराती भाषा में श्रीमद् भगवद्गीता को लिखा - 'जीवनगीता' ।
- १९३४ : सगुण ब्रह्म का साक्षात्कार । मल-मूत्र के आहार पर पचीस दिन की साधना, हिमालय की दूसरी यात्रा ।
- १९३४ से १९३९ : हिमालय की तीसरी यात्रा । इस दौरान हिमालय में अघोरीबाबा के पास जाना हुआ । बाद में नर्मदा धुआँधार के प्रपात के पीछे की गुफा में साधना । चैत्र मास में ६३ धुनियाँ जलाकर नर्मदा किनारे खुले में शिला पर नग्न बैठकर साधना । कराची में नर्क चतुर्दशी की रात्रि को समुद्र में शिला पर ध्यान, चालीस दिन के रोजे, समुद्र में चले जाने का हुक्म और ईद के दिन पूरे शहर में नग्न अवस्था में घूमकर घर जाने का हुक्म । शिरडी के साईंबाबा के प्रत्यक्ष दर्शन-आदेश-साधना के अंतिम चरण का मार्गदर्शन ।
- १९३९ : दि. २९-३-३९ : रामनवमी विक्रम संवत् १९९५ काशी में निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार । हरिजन सेवक संघ से त्यागपत्र । 'मनने' के प्रथम संस्करण का प्रकाशन ।
- १९४० : दि. ९-९-४० : हवाई मार्ग से अहमदाबाद से कराची जाने का गूढ़ आदेश ।
- १९४१ : माता का अवसान ।



- १९४२ : हरिजन सेवक संघ से अलग होने पर भी हरिजन कन्या छात्रालय के लिए मुंबई में चन्दा इकट्ठा किया। दो बार सख्त पुलिसमार - देहातीत अवस्था के प्रमाण।
- १९४३ : २४ फरवरी गांधीजी के पेशाब में जहरीले जन्तुओं का अपने पेशाब में दर्शन। नैमित्तिक तादात्म्य का अनुभव।
- १९४५ : हिमालय की यात्रा - अद्भुत घटनाएँ।
- १९४६ : हरिजन आश्रम अहमदाबाद मीरा कुटिर में मौनएकांत का आरंभ।
- १९४७ : आश्रम स्थापने का विचार।
- १९५० : दक्षिण भारत के कुम्भकोणम् (तामिलनाडु) में कावेरी नदी के किनारे हरि:ॐ आश्रम की स्थापना (सन् १९७६ में देहत्याग के बाद आश्रम बंध कर दिया गया)।
- १९५४ : सूरत के तापी नदी के किनारे कुरुक्षेत्र, जहाँगीर पुरा के श्मशान में मौनएकांत का आरंभ।
- १९५५ : दि. २८/०५/१९५५ जूना बिलोदरा, शेढी नदी के किनारे (नडियाद, गुजरात)। हरि:ॐ आश्रम की स्थापना।
- १९५६ : दि. २३/०४/१९५६ सूरत (गुजरात) तापी नदी के किनारे कुरुक्षेत्र, जहाँगीर पुरा में हरि:ॐ आश्रम की स्थापना।
- १९६२ : हरि:ॐ आश्रम, नरोडा, अहमदाबाद, (गुजरात)
- १९६२ : समाजोत्थान की प्रवृत्ति, उत्सव मनाने की संमति।
- १९७० से १९७५ : शरीर में पीडाकारी वेदना के साथ सतत प्रवास, वार्तालाप और साधना का इतिहास, श्रद्धा, निमित्त, रागद्वेष, कृपा आदि भाववाही विषयों पर लेखन-प्रकाशन।
- १९/०७/१९७६ : देहत्याग का संकल्प, हरि:ॐ आश्रम, नडियाद।
- २२/०७/१९७६ : देहत्याग विधि का प्रारंभ, सांयकाल ४.०० बजे से, फाजलपुर, (वडोदरा, गुजरात) मही नदी के किनारे श्री रमणभाई अमीन के फार्म-हाउस में।
- २३/०७/१९७६ : देहविसर्जन।

